।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः।।

# जीवन्मुक्तिके रहस्य

परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके
मार्मिक वचनोंसे संगृहीत

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

# जीवन्मुक्तिके रहस्य

## [ हस्तलिखित डायरीसे ]

[ परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके मार्मिक वचनोंसे संगृहीत ]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'हे प्रभो! आप ही मेरी माता हो, आप ही पिता हो, आप ही बन्धु हो, आप ही सखा हो, आप ही विद्या हो, आप ही धन हो। हे देवदेव! मेरे सब कुछ आप ही हो।'

संकलन-सम्पादन—

**राजेन्द्र कुमार धवन**

गीता प्रकाशन कार्यालय,
माया बाजार, पश्चिमी फाटक, गोरखपुर—273001 ( उ०प्र० )
फोन—09389593845, 09453492241
e-mail: radhagovind10@gmail.com
website: **www.gitaprakashan.com**

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

# प्राक्कथन

इस युगके अप्रतिम महापुरुष प्रातःस्मरणीय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका पूरा जीवन ऐसी युक्तियोंकी खोजमें लगा रहा, जिनसे मानवमात्र शीघ्र-से-शीघ्र तथा सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सके। इस विषयमें उन्होंने अनेक युक्तियोंकी खोज भी की और उन्हें अपने प्रवचनों तथा पुस्तकोंके माध्यमसे जनतातक पहुँचाया।

प्रस्तुत पुस्तक '**जीवन्मुक्तिके रहस्य**' में परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके श्रीमुखसे समय-समयपर सुने गये साधकोपयोगी मार्मिक बातोंका संकलन किया गया है। प्रायः प्रतिदिन प्रातः तीन बजे श्रीस्वामीजी महाराज पुस्तक-लेखन-कार्य करवाते थे। वह समय लेखन-कार्यके लिये इसलिये रखा गया था कि उस समय श्रीस्वामीजी महाराजके हृदयमें विशेष मार्मिक भाव जाग्रत् होते थे। श्रीस्वामीजी महाराजने इस विषयमें कहा था—*'अभी (प्रातः ३ बजे) जो बातें होती हैं, मैं व्याख्यानमें इन बातोंको कहना चाहता हूँ, जोर भी लगाता हूँ, पर पैदा ही नहीं होतीं!'* अतः उस समय एकान्तमें श्रीस्वामीजी महाराज अपने जो भाव व्यक्त करते थे, उन्हें मैं अपनी डायरीमें लिख लेता था। उनमेंसे अनेक भाव तो लेखोंमें, पुस्तकोंमें आ जाते थे, पर कई भाव किसी कारणवश पुस्तकोंमें नहीं आ पाते थे। उन अप्रकाशित भावोंमेंसे जो भाव मुझे अत्यन्त मार्मिक और जिज्ञासु साधकोंके लिये विशेष उपयोगी लगे, उन्हें इस पुस्तकमें प्रकाशित रहा हूँ। ऐसा करनेमें मेरा एकमात्र उद्देश्य यही है कि मेरे पास हस्तलिखित रूपसे श्रीस्वामीजी महाराजकी जो सामग्री रखी हुई है, वह यों ही न पड़ी रहे, प्रत्युत जिज्ञासु साधकोंतक पहुँच जाय, उनके काम आ जाय!

***पुस्तकके विषयमें—***

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराज अपने प्रवचनोंमें प्रायः कहा करते थे कि 'परमात्मा अंश होनेके कारण स्वरूप सर्वथा निर्दोष है; अतः आप अपनेमें दोषोंको न मानें।' यह बात उन साधकोंके लिये है, जो एकमात्र परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे साधनमें लगे हुए हैं। परन्तु जिन लोगोंका उद्देश्य परमात्मप्राप्ति नहीं है, जो साधक न होकर भोगी हैं, वे इन बातोंका दुरुपयोग करने लगते हैं अर्थात् 'हमारे कोई दोष है ही नहीं'—ऐसा मानकर उल्टे अपने दोषको ही पुष्ट करने लग जाते हैं! वास्तवमें 'मुझमें कोई दोष नहीं है'—यह बात दोषोंको मिटानेके लिये है, न कि दोषोंको रखनेके लिये।

जैसे शिवलिंग पूजन करनेके लिये होता है, अपना सिर फोड़नेके लिये नहीं, ऐसे ही 'मुझमें दोष नहीं हैं'—यह दोषोंको दूर करनेका एक अचूक उपाय है, जो श्रीस्वामीजी महाराजने दोषोंको मिटानेके उद्देश्यसे कहा है, दोषोंको बनाये रखनेके उद्देश्यसे नहीं। परन्तु भोगोंमें रचा-पचा मनुष्य इस बातका दुरुपयोग करके विकारोंसे समझौता कर लेता है, जिससे उसमें विकार स्थायी हो जाते हैं और परिणामस्वरूप उसका पतन हो जाता है। ऐसे ही मनुष्योंके लिये रामायणमें आया है—

**ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।**
**कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात॥**

(मानस, उत्तर० ९९क)

'कलियुगमें स्त्री-पुरुष ब्रह्मज्ञानके सिवाय दूसरी बात नहीं करते, पर वे लोभवश कौड़ियों (थोड़े-से लाभ)-के लिये ब्राह्मण और गुरुकी हत्या कर डालते हैं!'

एक ब्राह्मण थे। उनकी स्त्रीने ज्ञानकी बातें सुनकर सीख लीं कि 'आत्मा तो निर्दोष है; वह तो कुछ करता नहीं, इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं'—'**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' (गीता ५। ९) आदि। इस प्रकारकी बातें सीखकर वह दुराचार करने लग गयी। ब्राह्मण उसे समझाता तो वह ज्ञानकी सीखी हुई बातें कहकर उसे चुप कर देती। ब्राह्मण बड़ा दु:खी हो गया। एक दिन उसे एक अच्छे सन्त मिल गये। ब्राह्मणने उनसे अपनी व्यथा सुनायी कि 'मैंने पत्नीको गीता पढ़ाई, पर उसका परिणाम उल्टा हो गया है! अब मैं क्या करूँ?' सन्तने कहा कि 'तुम चिन्ता मत करो। तुम मुझे अपने घर भोजनके लिये बुलाओ; मैं उसे समझाऊँगा'। ब्राह्मणने वैसा ही किया। समयपर वे सन्त घर आये और बोले कि मैं रसोईमें ही बैठकर भोजन करूँगा। ब्राह्मणने उन्हें रसोईमें बैठा दिया। ब्राह्मणी चूल्हेपर रोटियाँ सेककर देने लगी। सहसा सन्तने चूल्हेमेंसे एक जलती हुई लकड़ी निकाली और ब्राह्मणीके शरीरपर लगानी शुरू कर दी। ब्राह्मणी चिल्लाने लगी तो सन्त बोले कि 'चिल्लाती क्यों हो? तुम तो गीताके अनुसार चलनेवाली हो। गीतामें आया है कि आत्माको कोई जला नहीं सकता—'**नैनं दहति पावकः**' (गीता २। २३)'। ब्राह्मणीने कहा कि 'वह तो परमार्थकी बात है, व्यवहारमें कैसे लागू होगी?' सन्त बोले कि 'आत्मा कुछ नहीं करता; आत्मा निर्दोष है आदि बातें भी परमार्थकी ही हैं, फिर तुम इन्हें व्यवहारमें क्यों लागू कर रही हो? दुराचारमें लगकर तुम महान् पाप कर रही हो, जिससे तुम्हारा पतन होना निश्चित है।' ब्राह्मणीको अपनी भूलका बोध हो गया और वह दुराचारसे निवृत्त हो गयी।

जैसे ज्ञानयोगका साधक सर्वप्रथम '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' के अनुसार जगत्को मिथ्या मानकर ही साधन आरम्भ करता है, और साधन करते-करते उसे जगत्के मिथ्यापनका अनुभव हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें संसार मिथ्या है। ऐसे ही साधक 'अपनेमें दोष नहीं हैं'—ऐसा मानकर साधन करता है तो साधन करते-करते परिणाममें उसे अपनेमें निर्दोषताका अनुभव हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें हमारा स्वरूप (भगवान्का अंश होनेसे) स्वत: निर्दोष है—

**ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥**

(मानस, उत्तर० ११७। १)

यदि हम जगत्को सत्य मानकर साधन करेंगे तो जगत्की वास्तविकता (मिथ्यापन)-का अनुभव कैसे होगा? कारण कि जगत्को सत्ता तो हमने पहले ही दे दी! असत्को सत्ता देकर फिर उसे कैसे मिटाया जा सकता है? ऐसा करनेसे तो उल्टे असत्की सत्ता ही दृढ़ होगी। इसी तरह 'मुझमें दोष हैं'—ऐसा मानकर साधन करनेसे दोष दूर नहीं होंगे, उल्टे दोष दृढ़ होंगे; क्योंकि हमने दोषोंको पहले ही अपनेमें स्वीकार कर लिया, उन्हें सत्ता दे दी!

'मैं दोषी (कामी-क्रोधी) हूँ'—ऐसा मान लेनेसे वह दोष अहंतामें बैठ जाता है। फिर दोषोंसे छूटना बड़ा कठिन हो जाता है। अत: जैसे 'संसारकी सत्ता नहीं है'—ऐसा मानकर साधन करनेसे संसारकी सत्ताका बाध सुगम हो जाता है और 'परमात्मा नित्यप्राप्त हैं'—ऐसा मानकर साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सुगम हो जाती है, ऐसे ही 'मुझमें दोष नहीं हैं'—ऐसा मानकर साधन करनेसे दोषोंका मिटना सुगम हो जाता है।

दूसरी बात श्रीस्वामीजी महाराज कहा करते थे कि 'परमात्मप्राप्तिके लिये कुछ करना ही नहीं है'—इस बातको न समझनेके कारण कुछ लोग, जो वास्तवमें साधक नहीं हैं, साधन-भजन करना छोड़ देते हैं! बड़ी हास्यास्पद बात है कि वे साधन-भजन तो छोड़ देते हैं, पर खाना-पीना, शौच-

स्नान करना, सोना, भोग भोगना, रुपये कमाना आदि नहीं छोड़ते! ऐसे अज्ञानियोंका पतन नहीं होगा तो क्या होगा? छोड़नेकी वस्तु तो छोड़ी नहीं! वास्तवमें 'कुछ नहीं करने' का तात्पर्य है—'अपने (स्वयं)-के लिये कुछ न करना'। अपने लिये कुछ न करनेका तात्पर्य है—'करनेके बदलेमें अपने लिये कुछ भी पानेकी इच्छा न होना'। तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो जो तत्त्व नित्यप्राप्त है, उसके लिये कुछ करना बनता ही नहीं। इसलिये श्रीस्वामीजी महाराज कहा करते थे कि जैसे पतिव्रता स्त्री पतिकी होनेके लिये कुछ नहीं करती, पर पतिके नाते घरका सब काम करती है, ऐसे ही हमें अपने लिये अथवा भगवान्‌का होनेके लिये कुछ नहीं करना है, पर दूसरोंके हितके लिये निष्कामभावसे सब कुछ करना है।

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजने यद्यपि आध्यात्मिक मार्गके गूढ़-से-गुढ़ विषयको भी साधकोंसे छिपाकर नहीं रखा तथा अपने प्रवचनोंमें उसे कहनेमें संकोच भी नहीं किया, तथापि साथ-ही-साथ उन्हें इस बातका भय भी रहा कि उन बातोंका कोई दुरुपयोग न करे! इसलिये प्रवचनमें श्रीस्वामीजी महाराजने अपने मनकी बात कही—

*'सच्ची बात कहनेसे भी डर लगता है, संकोच होता है कि आप क्या अर्थ लगाओगे!'* (२१.५.२०००, सायं ४, ऋषिकेश)

*'श्रोता सदुपयोग भी कर सकते हैं, दुरुपयोग भी; अतः सब बातें कहनेमें नहीं आतीं।'* (२६.७.९८, प्रातः ९, जोधपुर)।

इसलिये साधकका उद्देश्य अनुभव करनेका होना चाहिये, बातें सीखनेका नहीं। सीखे हुए ज्ञानवाला साधक 'बद्धज्ञानी' हो जाता है। फिर उसे बोध नहीं हो सकता। श्रीस्वामीजी महाराजने कहा है—

*'ज्ञानकी बातें सीख जाओगे तो वाचिक ज्ञानी, बद्धज्ञानी बन जाओगे। अज्ञानीकी मुक्ति हो सकती है, पर बद्धज्ञानीकी मुक्ति नहीं हो सकती।'* (११.६.१९९९, सायं ४, ऋषिकेश)

*'यद्यपि 'योग' के बिना कर्म और ज्ञान दोनों ही बन्धनकारक हैं, तथापि कर्म करनेसे उतना पतन नहीं होता, जितना पतन वाचिक (सीखे हुए) ज्ञानसे होता है। वाचिक ज्ञान नरकोंमें ले जा सकता है।'* (साधक-संजीवनी ५। २ परि०)

*ज्ञातव्य—*

साधककी भूल यह होती है कि जिस समय वह कोई उपदेश सुनता अथवा पढ़ता है, उस समय वह अपना आग्रह रखते हुए, अपनी मान्यताको सामने रखते हुए ही सुनता अथवा पढ़ता है। वह अपनेको शरीर मानते हुए, शरीरके साथ एक होकर ही आत्माका विवेचन सुनता है, मानो वह खुद तो शरीर है, और आत्मा दूसरी वस्तु है! वास्तवमें शरीर-संसारका विवेचन 'परचर्चा' और आत्माका विवेचन 'स्वचर्चा' है। परन्तु जब वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी बात सुनता है, तब उसे वह आत्मचर्चा या स्वचर्चा (अपनी बात) मानकर सुनता है, और जब वह आत्माकी बात सुनता है, तब उसे वह परचर्चा (परायी बात) मानकर सुनता है। इसलिये वह जो कुछ सुनता है, उसका अपनी बुद्धिमें संग्रह कर लेता है। पढ़-सुनकर सीखी हुई बातको वह जानी हुई बात मान लेता है, जो बहुत बड़ी भूल है। श्रीस्वामीजी महाराजके कथनानुसार यदि साधककी बुद्धि शुद्ध तथा तीक्ष्ण हो, और उसमें तीव्र वैराग्य हो तो उसे तत्काल जीवन्मुक्तिका अनुभव हो सकता है!

कुछ भी पढ़ा या सुना जाय, वह सर्वथा निर्विकल्प या निर्दोष नहीं होता; क्योंकि उसमें जड़ताका संग रहता है। अतः पाठकको इस पुस्तकके शब्दोंपर ध्यान न देकर उनमें निहित भावपर ध्यान देना

चाहिये। इस विषयमें श्रीस्वामीजी महाराज द्वारा कही गयी यह बात विशेष ध्यान देनेयोग्य है—

*'जैसा भाव मेरा होता है, वैसा भाव लेखोंमें नहीं आता, आ सकता भी नहीं! परन्तु तत्त्वकी जिज्ञासा जोरदार होनेसे, उत्कट अभिलाषा होनेसे पाठक लेखकके भावतक पहुँच जाता है।'*

*'बातोंसे समाधान नहीं होता। जो अपना कल्याण चाहता है, उसका समाधान हो सकता है। पर जो अपना कल्याण नहीं चाहता, जो जिज्ञासु नहीं है, उसका समाधान नहीं हो सकता।'*

प्रस्तुत पुस्तक लौकिक उद्देश्यवाले संसारी मनुष्यके कामकी नहीं है, अपितु सच्ची लगनवाले जिज्ञासु साधकके लिये बड़े कामकी है। पाठकोंकी सुविधाके लिये आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं पादटिप्पणी देकर विषयको स्पष्ट करनेकी चेष्टा भी की गयी है। आशा है, जो साधक तत्त्वप्राप्तिके लिये भटक रहे हैं, उनके लिये यह पुस्तक एक बहुत बड़ा आश्रय सिद्ध होगी!

**श्रीगीता-जयन्ती**
**वि० सं० २०७१ (२.१२.२०१४)**

निवेदक—
**राजेन्द्र कुमार धवन**

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

॥ श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥

# जीवन्मुक्तिके रहस्य

इस समय मेरे मनमें बड़े जोरसे आ रही है कि आपलोगोंको अभी-अभी तत्त्वज्ञान हो जाय!! शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि सब बदलते हैं, पर अपना होनापन निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। शरीर तथा संसार बदलते हैं, स्वयं तथा परमात्मा नहीं बदलते। बदलनेवाला बदलनेवालेके साथ एक है, नहीं बदलनेवाला नहीं बदलनेवालेके साथ एक है। आप न बदलनेवाले अपने होनेपनमें दृढ़ रहो। अनुभवमें न आये तो भी दृढ़तासे मान लो। बादमें यह मानना मानना नहीं रहेगा, अनुभव हो जायगा! केवल इस बातका आदर करो। ये बातें मिलती नहीं!!

जो तत्त्वप्राप्ति करना चाहते हैं, उनको प्राप्ति हो सकती है, चाहे वे कैसे ही क्यों न हों, अधिकारी हों या अनधिकारी, उनका अन्तःकरण शुद्ध हो या अशुद्ध, कैसे ही हों! हाँ, अगर वे तत्त्वप्राप्ति चाहते ही नहीं, उनमें लगन ही नहीं, तो उनको तत्त्वप्राप्ति कराना हमारे वशकी बात नहीं! *(दिनांक १६.१०.१९८४)*

***                ***                ***

शरीर संसारसे अलग नहीं हो सकता और हम परमात्मासे अलग नहीं हो सकते। शरीरके साथ हमारी एकता नहीं है। शरीर हमारेसे बहुत दूर है। हमारी एकता परमात्माके साथ है। परमात्मा हमें मिले हुए ही हैं। यही तत्त्वज्ञान है, यही स्वाधीनता है!

मृत्यु होनेपर शरीर छूटेगा। मैं तो परमात्मामें ही हूँ। परमात्मामें यह सामर्थ्य नहीं कि मेरेसे अलग हो जायँ, दूर हो जायँ। 'हूँ' 'है' से अलग कैसे होगा? शरीर मेरे काम नहीं आता, परमात्मा ही मेरे काम आते हैं। शरीर हरदम मौतमें रहता है, मैं हरदम परमात्मामें रहता हूँ। यह बात जीवनभर कभी मिट सकती है क्या? अब करना, जानना और पाना क्या बाकी रहा? कुछ बाकी नहीं रहा!

***                ***                ***

एक बातको दृढ़तासे मान लो। बात छोटी-सी है, पर बड़ी दामी और सबसे सुगम है! केवल मान लें—इतनी ही बात है। शरीर छोटेसे बड़ा हो गया, इसमें परिवर्तन किस दिन हुआ—यह नहीं बता सकते; क्योंकि यह प्रतिक्षण बदल रहा है, नष्ट हो रहा है। जब यह एक क्षण भी नहीं टिकता तो फिर इसको मौजूद कैसे कह सकते हैं? यह जो मौजूद दीखता है, यह शरीर-संसारका मौजूद होना नहीं है, प्रत्युत परमात्माका मौजूद होना है। परमात्मा ही मौजूद है। वही 'है'-रूपसे दीखता है। शरीर-संसार 'नहीं' हैं, इनकी तो सत्ता ही नहीं है। यही खास बात है, और कुछ नहीं! लोग बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं कि जप करो, तप करो, ध्यान करो, आदि-आदि, पर मूलमें बात इतनी ही है! यह ऊँची-से-ऊँची बात है, पर है सुगम! इससे सुगम और क्या हो सकता है? यही तत्त्वज्ञान है! इसको मान लो—यही मुक्ति है!

***                ***                ***

एक तत्त्वकी मार्मिक बात है। आप मानते हैं कि 'मैं हूँ', तो यह परिच्छिन्नताको लेकर है। 'मैं' न रहे तो केवल सत्तामात्र 'है' ही रहेगा। उसी 'है' में स्थित हो जाओ, बस, इतना ही करना है। अब इच्छा, क्रोध आदि कुछ भी आ जाय तो विचलित मत होओ! इसपर दृष्टि रखो कि ये नष्ट हो जायँगे, आये हैं तो चले जायँगे। इनसे मिलो नहीं। उस 'है' में स्थित रहो तो और कुछ

भजन, जप, ध्यान आदि करनेकी जरूरत नहीं है! उनको करना अच्छा है, उनका निषेध नहीं करता हूँ, पर उनकी जरूरत नहीं रहेगी। अभी अनुभव न भी हो तो भी केवल मान लो, अनुभव हो जायगा!

*** *** ***

'मैं' के कारण 'हूँ' होनेपर भी 'है'-पनेमें कोई फर्क नहीं पड़ा! 'है' तो वैसा-का-वैसा ही है। 'मैं' के कारण उसको 'हूँ' कहते हैं, नहीं तो वह है-का-है ही है! इस बातको पकड़ लें तो जीवन्मुक्ति स्वतःसिद्ध है! लड़का कन्याके सम्बन्धसे दामाद हो गया, पर लड़का तो वही-का-वही है! ऐसे ही 'मैं' के सम्बन्धसे 'हूँ' हो गया, पर वास्तवमें तो वह 'है' ही है! मुक्त ही मुक्त होता है, बद्ध मुक्त कैसे हो जायगा?

*** *** ***

स्वयं परमात्माका अंश है और शरीर प्रकृतिका अंश है। परमात्माका अंश सदा परमात्मामें ही स्थित है और प्रकृतिका अंश सदा प्रकृतिमें ही स्थित है, तो अब बाकी क्या रहा? कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तीनों पूरे हो गये! न करना बाकी रहा, न जानना बाकी रहा, न पाना बाकी रहा! आज संवत् (२०५३) पूरा हो गया तो काम भी पूरा हो गया!

*** *** ***

मात्र क्रिया और विकार जड़में ही है, चेतनमें नहीं। यदि विकार है तो चेतन कैसे? और चेतन है तो विकार कैसे? ऐसी बात सुन लेनेमें भी बड़ा लाभ है! अभी नहीं होगा तो अगले जन्ममें हो जायगा! ऐसी बात सुननेको भी नहीं मिलती! बड़ी दुर्लभ बात है!

वास्तवमें काम-क्रोधादि विकार न जड़में हैं, न चेतनमें हैं और न जड़-चेतनके सम्बन्धमें ही हैं; क्योंकि प्रकाश और अन्धकारके संयोगकी तरह जड़-चेतनका संयोग भी नहीं हो सकता। ये विकार हमारी भूलमें, मान्यतामें हैं। इनको हमने स्वीकार किया है। अगर यह पूछें कि विकार किसमें रहते हैं तो मानना ही पड़ेगा कि ये जड़में रहते हैं।

*** *** ***

एक बहुत मार्मिक बात है, जिसकी तरफ साधक ध्यान नहीं देता। वह यह है कि परमात्माकी प्राप्ति 'करने' से नहीं होती, वह तो स्वतःसिद्ध है! इसीलिये उसकी प्राप्ति होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।

परमात्मप्राप्तिमें 'करने' का भाव बाधक है कि जप-ध्यान आदि कुछ करें तो प्राप्ति हो! 'करने' के भावसे कर्तृत्व आता है और कर्तृत्व आनेसे व्यक्तित्व आता है। 'करने' से प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। 'कुछ न करने' से स्वरूपमें स्थिति स्वतः होती है।

*** *** ***

शरीरसे तादात्म्यके कारण हमें अपनी निर्लिप्तताका अनुभव नहीं होता। इसलिये प्रत्येक क्रियामें स्वयंकी मुख्यता रहती है कि मैं करता हूँ, मैं खाता-पीता हूँ, मैं चिन्तन करता हूँ, मैं कामी-क्रोधी हूँ, काम-क्रोध मेरेमें हैं, आदि। क्रिया होती है शरीरकी, पर मानते हैं अपनी! इसलिये प्रत्येक क्रियामें शरीरकी मुख्यता न रखकर अपनी मुख्यता रखते हैं। वास्तवमें स्वयं करने और न करने—दोनोंसे रहित है—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३। १८)।

सत्तामात्र होनेसे स्वयं स्वतः ही 'चुप' है। परन्तु गलती यह होती है कि सत्तामात्रका अनुभव न करके अपनेमें क्रियाका अनुभव करते हैं कि 'मैं करता हूँ'। स्वयंमें कोई क्रिया नहीं है; अतः

क्रिया करते समय भी यह दृष्टि रहनी चाहिये कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'*।

मनुष्य भोजन करते समय 'मैं करता हूँ'—ऐसे अपनेको कर्ता मानता है, पर भोजन पचनेकी क्रियाका कर्ता अपनेको नहीं मानता। वास्तवमें भोजन करते समय भी वह उसका ज्ञाता हुआ, कर्ता कैसे हुआ?

***  ***  ***

एक मार्मिक बात है। हरेक काम करते समय यही भाव रहता है कि 'मैं करता हूँ'; जैसे—मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ आदि। यही बन्धन है! तभी कहा है—**'नैव किञ्चित्करोमीति'** 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'। काम भी होता है, पर 'मैं नहीं करता हूँ'—इसका विश्लेषण करना कठिन है। इसीलिये आया है—**'कुर्वन्नपि'** (गीता ५। ७) करते हुए भी, **'पश्यन्'** (गीता ५। ८) देखते हुए भी, **'शरीरस्थोऽपि'** (गीता १३। ३१) शरीरमें स्थित रहते हुए भी!

***  ***  ***

अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्वका अनुभव होना चाहिये कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' **'नैव किञ्चित्करोमीति'**—यही तत्त्वज्ञान है, यही जीवन्मुक्ति है! सभी क्रियाएँ प्रकृति-विभागमें हैं। जैसा है, वैसा जाननेका नाम 'ज्ञान' है; अतः अपनेको अकर्ता अनुभव करना 'ज्ञान' है। स्वरूपमें (सत्तामें, होनेपनमें) न क्रिया है, न पदार्थ है—ऐसा अनुभव करना जीवन्मुक्तका लक्षण है। इस बातको आज ही एकान्तमें बैठकर स्थायी कर लो, फिर यह अपने-आप दीखने लगेगी!

***  ***  ***

**'नैव किञ्चित्करोमीति'** (गीता ५। ८)—इसका तात्पर्य यही नहीं है कि वर्तमानमें मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, मेरेमें कर्तृत्व नहीं है। वास्तवमें किसी भी कालमें अपनेमें कर्तृत्व नहीं है। साधकको पहले (भूतकालमें) किये हुए कर्मोंकी स्मृति आती है। निषिद्ध कर्मोंकी स्मृति आती है तो दुःख होता है, विहित कर्मोंकी स्मृति आती है तो सुख होता है। परन्तु वास्तवमें उस समय भी हम निर्लेप (अकर्ता) थे! स्वरूप सत्तामात्र है, और सत्तामात्रमें अच्छा-बुरा करना बनता ही नहीं। अतः पहले किये अच्छे-बुरे कर्मोंको लेकर सुखी-दुःखी होना, हर्ष-शोक करना गलती है।

***  ***  ***

साधन क्या करें? सब साध्य ही है! एक तत्त्वके सिवाय कुछ है नहीं। न कुछ करनेकी रुचि रहे, न देखनेकी रुचि रहे, न पानेकी रुचि रहे। अपने लिये क्या करना? क्या पाना? भीतर किसी तरहकी इच्छा नहीं। कुछ करनेकी रुचि न रहे—यही न करना है। क्रिया और पदार्थ प्रकृति है। न क्रियाकी रुचि रहे, न पदार्थकी।

सब बात इतनी ही है कि एक 'है'.....! कुछ करना नहीं है, कुछ पाना नहीं है। करना-कराना कुछ नहीं। कुछ करनेकी मनमें आती है—यही अधूरापन है। न करनेसे मतलब है, न नहीं करनेसे मतलब है, केवल 'है' से मतलब है—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३। १८)। इससे

---

* **नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥**
**प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥**

(गीता ५। ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ, (मल-मूत्रका) त्याग करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ तथा आँख खोलता हुआ और मूँदता हुआ भी 'सम्पूर्ण इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं'—ऐसा समझकर 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा माने।'

सुगम बात और क्या होगी?

*** *** ***

'मेरा जीवन निर्दोष नहीं है'—यह जिस ज्ञानमें दीखता है, उसमें दोष नहीं है और वही आपका स्वरूप है। दोष निर्दोषतासे दीखता है, कमी पूर्णतासे दीखती है, असत्य सत्यसे दीखता है, 'नहीं' 'है' से दीखता है, विकार निर्विकारसे दीखते हैं, नाशवान् अविनाशीसे दीखता है। अब क्या कमी रही?

*साधक—जो दीखता है, उसके साथ मिल जाते हैं!*

*स्वामीजी*—दृश्यमें द्रष्टा कैसे मिलेगा?

*** *** ***

अगर हम दोषी होते तो दोष कभी मिट ही नहीं सकता; क्योंकि सत्का कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**'। निर्दोषता सत् है, स्थायी है। अतः हमारेमें दोष है ही नहीं—मेरा यह कहना मान लो तो आज काम हो गया!

दोषी दोषको नहीं पकड़ता, प्रत्युत निर्दोष ही दोषको पकड़ता है। निर्दोषको ही दोषोंका ज्ञान होता है। आप अपनेमें दोषको क्यों जमाते हो, निर्दोषताको क्यों नहीं जमाते? दोषोंको आपने ही सत्ता देकर दृढ़ किया है। अब आप निर्दोषताको दृढ़ कर लो!

*साधक—निर्दोषताको दृढ़ करनेमें निर्बलता क्यों दीखती है?*

*स्वामीजी*—दोषोंको सत्ता देनेसे ही निर्बलता आयी है। निर्दोषतासे ही दोष जाना जाता है। अगर आपमें दोष होता तो दोषको जान सकते ही नहीं। दोष असत् है और असत्की सत्ता है ही नहीं। जैसे आपने दोषोंको अपनेमें स्थापन किया है, ऐसे ही निर्दोषताको अपनेमें स्थापन कर लो। आप नित्य हैं कि दोष नित्य हैं? नित्यमें अनित्य कैसे आ सकता है? सूर्यमें अमावसकी रात कैसे आ सकती है?

*** *** ***

साधक यह सोचता है कि मेरेमें दोष हैं; अतः उन दोषोंको दूर करके मैं निर्दोष हो जाऊँगा। पर वास्तवमें स्वयंमें दोष हैं ही नहीं—***'चेतन अमल सहज सुख रासी'***। दोषको अपनेमें मान लिया—यही खास दोष है। राग-द्वेषादि विकार नेत्रों, इन्द्रियों, शरीर आदिके सामने आते हैं, अपने सामने आ ही नहीं सकते।

पुरानी आदत पड़ी हुई है तो वह आदत भी असत्में ही है। काम-क्रोधादि सारे अनर्थ असत्के सम्बन्धसे ही हैं। ये अनर्थ आते भी असत्में ही हैं, पर आप इनको पकड़ लेते हो। अहम्, मन, बुद्धि आदिको अपना न मानो तो क्रोधादि विकार आये ही नहीं।

*** *** ***

साधकमें एक पकड़ रहती है। वह पकड़ बाधक होती है, बाँध देती है, खुला नहीं होने देती। जैसे—मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, आदि। यह पकड़ बोध नहीं होने देती। वास्तवमें स्वयं न पुरुष है, न स्त्री है, न ब्राह्मण है, न वैश्य है। अपनी पकड़ ही बन्धन है। इसलिये कोई पकड़ न रखे, कहीं अटके नहीं।

*** *** ***

अपनेसे बड़ी-से-बड़ी गलती भी हो जाय तो ऐसा माने कि गलती आयी और चली गयी, मैं

तो वैसा-का-वैसा हूँ। अपनेमें कोई कमी नहीं आती। **'नाभावो विद्यते सतः'**—यह याद रख लो। गलती मेरेमें है—यह बड़ा दोष है। यह कहने-सुननेकी बात नहीं है। निर्विकारमें विकार कैसे हो सकता है? विकारमें स्थिति न करके स्वरूपमें स्थिति करें।

*** *** ***

क्रिया और पदार्थ—यह प्रकृतिका कार्य है। क्रियाएँ भी अनेक हैं, पदार्थ भी अनेक हैं। परन्तु क्रिया और पदार्थको छोड़ दें तो सब एक हो जायँगे। क्रिया और पदार्थको लेकर तो सबमें भेद रहेगा, पर क्रिया और पदार्थके बिना क्या भेद है? क्रिया और पदार्थके अन्तर्गत व्यक्ति और वस्तु भी मान लेने चाहिये। क्रिया, पदार्थ, व्यक्ति और वस्तु—इनका त्याग करनेके बाद जो शेष बचता है, वही तत्त्व है।

आप अच्छे हैं या बुरे हैं, पुण्यात्मा हैं या पापी हैं, मूर्ख हैं या विद्वान् हैं, क्रिया और पदार्थसे रहित होनेपर क्या फर्क पड़ा? सब एक हो गये! क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद करते ही तत्त्वज्ञान हो जायगा! योगियोंको योगकी प्राप्ति हो जायगी, ज्ञानियोंको ज्ञानकी प्राप्ति हो जायगी, भक्तोंको प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी, सब कुछ हो जायगा! तत्त्वज्ञान, योग, भक्ति सब हो जायँगे! शक्ति, मुक्ति और भक्ति बाकी रह सकती ही नहीं!

*** *** ***

हमें कुछ भी करना नहीं है, प्रत्युत अक्रिय होना है। जबतक मनुष्य 'अपने लिये' कुछ भी करता है, तबतक वह अज्ञानी है। स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामात्रमें स्थित हो जाओ, फिर सब काम पूरा हो जायगा! क्रिया और पदार्थ रहेंगे तो सत्तामात्र नहीं रहेगी, और सत्तामात्र रहेगी तो क्रिया और पदार्थ नहीं रहेंगे। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है, पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश होता है। सत्तामात्रके सिवाय और कुछ है ही नहीं! ऐसे सत्तामात्रमें स्थित हो जाओ तो काम हो ही जायगा—इसमें कोई सन्देह नहीं! सब कुछ अपने-आप हो जायगा! पर होगा भगवान्‌की कृपासे, अपने उद्योगसे नहीं! अबतक जो कुछ हुआ है, वह अपने उद्योगसे नहीं हुआ है, प्रत्युत कृपासे हुआ है। उसी कृपासे आगे भी होगा!

*** *** ***

गीतामें आया है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६) 'असत्‌का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।' इसका तात्पर्य हुआ कि एक सत्ता-ही-सत्ता है। एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है। राग-द्वेषादि स्वयंमें नहीं हैं, प्रत्युत माने हुए सम्बन्धमें हैं। मैं त्रिकालमें भी शरीर नहीं हूँ। मेरेमें कभी राग-द्वेष हुए ही नहीं। पर यह होगा कृपासे ही! कृपाके बिना इधर ध्यान नहीं जाता। हमारे पास एक बुद्धि है। बुद्धिके सिवाय और हमारे पास क्या है? बुद्धि स्थिर हो सकती है, पर उस सत्ताको पकड़ नहीं सकती। अतः कृपा माननेके सिवाय कोई चारा नहीं है!

एक सत्ता-ही-सत्ता है—यह मुक्ति हो गयी। इसमें सन्तोष न करे तो प्रेम होगा ही, प्रेमके सिवाय और क्या होगा? क्योंकि स्वयं उसीका अंश है।

*** *** ***

भोगोंमें आकर्षण पशुता है। जिस जीवनमें भोगोंमें आकर्षण है, उस जीवनको सुधारनेसे काम नहीं होगा। ऐसा मानो कि वह जीवन ही दूसरा है और यह जीवन ही दूसरा है। जब हमने जान लिया कि अन्यकी सत्ता ही नहीं है तो फिर आकर्षण कैसे रहा! चेतनका जड़में आकर्षण हो सकता ही

नहीं!

संसारका आकर्षण जिसमें होता है, वह मन-बुद्धिके साथ मिला हुआ है। वह हमारा स्वरूप नहीं है। जिसमें आकर्षण नहीं होता, वह हमारा स्वरूप है।

जो हमारा स्वरूप है, उसमें आकर्षण होता नहीं और जिसमें आकर्षण होता है, वह हमारा स्वरूप नहीं। उस स्वरूपमें ही हरदम रहो। उसीमें हरदम रहो—यह भी व्यवहारके लिये कहते हैं, वास्तवमें उसमें स्थित हैं ही!

*** *** ***

आकर्षण सजातीयतामें ही होता है। भोक्ता, भोग और भोग्य—तीनों एक जातिके (जड़) हैं। अत: स्वयं इन तीनोंसे सर्वथा भिन्न है—यह बात सिद्ध हुई। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वयं भोक्ता, भोग और भोग्य—तीनोंसे अलग हो जाता है अर्थात् उसमें इन तीनोंका कोई असर नहीं पड़ता।

विशेष ध्यान देनेकी बात है कि संसारका जो असर पड़ता है, वह भी मन-बुद्धिपर ही पड़ता है, स्वयंपर नहीं। इसीलिये कहा है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। तादात्म्यके कारण ऐसा दीखता है कि मैं लिप्त हो गया, मैं बह गया, पर वास्तवमें स्वयं ज्यों-का-त्यों है।

*** *** ***

सत्‌के साथ असत् कैसे मिलेगा? मिला हुआ मान लिया है, उस माने हुएमें आकर्षण होता है। हमारा स्वरूप तो वह है, जिसमें कोई आकर्षण नहीं।

जड़ चेतनको कैसे खींच सकता है? स्वयंका जड़में आकर्षण हो ही नहीं सकता। गुणोंका गुणोंमें आकर्षण हो रहा है, स्वयं कुछ करता ही नहीं—**'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३। २८), **'नैव किञ्चित्करोमीति'** (गीता ५। ८)।

*** *** ***

*साधक—सत्तामात्रमें स्थिति होती है, पर सांसारिक सुखमें आकर्षण हो जाता है, तब क्या करें?*

*स्वामीजी*—संसारमें आकर्षण हो गया—यह नुकसान नहीं हुआ है, प्रत्युत उस आकर्षणको सच्चा मान लिया—यह नुकसान हुआ है! आकर्षण तो मिट जाता है, पर सत्ता रहती है। वास्तवमें आकर्षण होना भी मिटनेका नाम है और आकर्षण न होना भी मिटनेका नाम है। आकर्षणको महत्त्व दे दिया—यही बीमारी है।

*** *** ***

एक सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं है। इस सत्तामात्रको ही **'है'** कहते हैं। सत्तामात्रके सिवाय कुछ है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं। अब कुछ करना-जानना-पाना बाकी नहीं रहा! पूरा सन्तोष हो गया! अब क्या शंका रही?

*साधक—संसारमें आकर्षण हो जाता है!*

*स्वामीजी*—आकर्षणकर्ता, आकर्षण और आकर्षणका विषय—तीनों हैं ही नहीं! न आकर्षक है, न आकर्षण है, न आकर्षणीय है, प्रत्युत सत्तामात्र है। पूर्वाभ्याससे, पुराने संस्कारोंसे आकर्षण दीखता है।

*साधक—जो अनेकरूपसे दीख रहा है, वह क्या है?*

*स्वामीजी*—जो दीख रहा है, उसमें सिवाय सत्ताके और क्या है? विचार करो। न मैं है, न तू है, न यह है, न वह है, प्रत्युत सत्तामात्र है। कोई शंका रह ही नहीं सकती! संसारकी सत्ता है नहीं, केवल मानी है। सत्तामात्र है—इससे ऊँची कोई अवस्था है ही नहीं!

*** *** ***

आकर्षण छोड़नेका सबसे बढ़िया उपाय है—**'मद्रूप उभयं त्यजेत्'** अर्थात् मन और विषय दोनोंका ही त्याग कर दे*। अहम् भी एक प्रकाशमें दीखता है। अहम् नहीं है, पर प्रकाश है। अतः अहम्, मन और विषय—तीनोंको छोड़ दे।

सुषुप्तिमें अहम् अर्थात् 'मैं' नहीं रहता, पर अपनी सत्ता रहती है। जो कभी है और कभी नहीं है, वह कभी भी नहीं है! अतः 'मैं' नहीं है, प्रत्युत 'है' है। 'है' में 'मैं' नहीं है।

भोगोंके आकर्षणका विरोध न करे। विरोध करनेसे भोगोंकी सत्ता दृढ़ होगी। आकर्षणको मिटाना भी नहीं है। उसकी सत्ता हो तो मिटायें! सत्ता ही नहीं तो मिटायें क्या? मैं कहूँ कि 'यहाँसे घड़ा उठाओ' तो जब यहाँ घड़ा है ही नहीं तो उठायें क्या? मिटानेकी चेष्टा करना तो उसको सत्ता देना है। आकर्षण तो है ही नहीं! जिसको आकर्षणका ज्ञान होता है, उसमें आकर्षण नहीं है।

मन प्रकृतिका अंश है; अतः मनका प्रकृतिमें आकर्षण होगा ही! नेत्रोंका रूपमें आकर्षण होगा। सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको ग्रहण करती हैं। अतः **'मद्रूप उभयं त्यजेत्'**।

*** *** ***

आकर्षण हो तो उसकी उपेक्षा कर दो, उदासीन हो जाओ। आकर्षण हो जाय तो क्या, न हो तो क्या, कोई तत्त्व नहीं है! सत्तामात्रमें किसका आकर्षण हो और किसमें हो?

स्वरूप सत्तामात्र है, तो फिर उसमें संग कैसे? वह तो निर्लेप है! उसमें विकार कहाँ? सत्ता हमारा स्वरूप है तो फिर बाकी क्या रहा? सत्तामात्रमें क्या संग, लेप हो सकता है? अनन्त शरीर धारण करने तथा छोड़नेपर भी सत्तामात्र स्वरूप ज्यों-का-त्यों रहा!

एक सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं है। सत्तामात्रमें असत्का आकर्षण नहीं हो सकता। इसलिये सत्तामात्रको देखो, आकर्षण मिट जायगा। सिवाय सत्ताके कुछ नहीं है—ऐसा मानो तो आकर्षण स्वाभाविक मिट जायगा। एक सत्तामात्र है—यह मानते ही संसार भूलता है!

एक दिन मैं सोकर उठा तो मनमें भाव आया कि असत्की सत्ता ही नहीं है, फिर साधक असत्के आकर्षणसे क्यों घबराये? उसकी तो सत्ता ही नहीं है! ऐसा लगा कि भगवान्ने ही यह भाव भीतर भेजा है! भगवान् जबर्दस्ती दे रहे हैं! इसकी तो सत्ता ही नहीं है, फिर घबरायें क्यों!

*** *** ***

हमारा स्वरूप है—सत्तामात्र। सत्तामात्रमें संसारका क्या असर पड़ा? सत्तामें कभी असर पड़ा ही नहीं, कभी विकार हुआ ही नहीं, कभी आसक्ति हुई ही नहीं—ऐसा अनुभव होगा। जो अपनी स्वाभाविक स्थिति है, उसमें कभी विकार हुआ ही नहीं—ऐसा साफ मालूम देगा। तादात्म्यमें स्थित होनेसे असर पड़ता है, पर तादात्म्यसे अलग जो अपना स्वरूप है, उसमें असर है ही नहीं!

---

* एक बार सनकादिकोंने ब्रह्माजीसे पूछा कि मन विषयोंमें फँसा हुआ है और विषय मनमें बसे हुए हैं; अतः इन दोनोंको एक-दूसरेसे अलग कैसे करें? तब भगवान्ने हंसरूपमें आकर उत्तर दिया कि सत्तामात्र मुझमें स्थित होकर मन और विषय—दोनोंका ही त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) कर दो—**'मद्रूप उभयं त्यजेत्'** (श्रीमद्भागवत ११। १३। २६)। तात्पर्य है कि इन्द्रियाँ और उनके विषय—दोनोंसे ही हमारा सम्बन्ध नहीं है।

इस बातको कैसे समझायें? केवल 'सत्ता' कहनेसे बात समझमें नहीं आती। ऐसा समझो कि हम जो हरदम व्यवहार करते हैं, उसके पासमें ही हमारा स्वरूप है। जो विकार होते हैं, उसके पासमें ही हमारा निर्विकार स्वरूप है। विकारको हटाना नहीं है, प्रत्युत निर्विकार स्वरूप स्वभाविक दीखना चाहिये। पहलेके अभ्याससे असर दीखता है तो वह स्वतः मिट जायगा। जिसमें कभी असर पड़ा ही नहीं, कभी विकार हुआ ही नहीं, वही तो हमारा स्वरूप है!!

*** *** ***

आप चिन्मय सत्तारूप हैं। विकार मन-बुद्धिमें होते हैं, आप ज्यों-के-त्यों रहते हैं। आपमें कोई विकार नहीं होता, पर मन-बुद्धिसे एक होकर आप मन-बुद्धिमें होनेवाले विकारको अपनेमें मान लेते हैं। आप मन-बुद्धिसे मिल जाते हैं। इसका कारण है—विवेकको महत्त्व न देना। विवेकको महत्त्व न देनेसे आप चिन्मय सत्ताको अपना स्वरूप न मानकर मन-बुद्धिको अपना स्वरूप मान लेते हैं।

मन-बुद्धि अलग हैं, आप अलग हैं। आप परमात्माके अंश हैं, मन-बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं। असर मन-बुद्धिपर होता है, 'है' पर नहीं। 'नहीं' का असर 'नहीं' पर ही पड़ेगा, 'है' पर कैसे पड़ेगा? एक-दो नहीं, चौरासी लाख योनियाँ बीत गयीं, पर आप वही एक हो! यह विवेक हरदम जाग्रत् रखो।

*** *** ***

'सत्ता है'—यह सामान्य ज्ञान है, और 'वह सत्ता अहम्‌से रहित है'—यह विशेष ज्ञान है। स्मृति विशेष ज्ञानकी होती है। हमें अपनी सत्ताका सामान्य ज्ञान तो है, पर विशेष ज्ञान नहीं है—यही भूल है। अहंरहित स्वरूपका ज्ञान ही असली ज्ञान है। अहंरहित स्वरूपके ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञानके लिये दो बातें बहुत सहायक हैं—

१) सुषुप्तिमें अहम् नहीं रहता, पर स्वरूप रहता है—इस प्रकार सुषुप्तिका ज्ञान तत्त्वज्ञानमें बड़ा सहायक है।

२) अनेक योनियोंमें जानेपर अहम् बदलता है, पर सत्ता नहीं बदलती—यह ज्ञान तत्त्वज्ञानमें बड़ा सहायक है।

*** *** ***

सुषुप्तिमें अहंकार नहीं रहता, पर हम रहते हैं। सुषुप्तिमें अहंकारके बिना जैसी स्थिति है, वैसी स्थिति जाग्रत्‌में हो जाय तो स्वरूपका अनुभव हो जायगा!

एकदेशीयपना अहंकारसे दीखता है। सत्ता एकदेशीय नहीं है। एकदेशीयपनेको छोड़ दे। केवल सत्ता है। उस सत्तामें अहम् नहीं है।

'हूँ' नहीं है, 'है' है। उस 'हूँ' को 'है' में देखकर चुप हो जायँ। 'है' ही अपना स्वरूप है। 'है' में अहंकार नहीं है। अहंकार होनेसे क्रिया होती है। क्रिया होनेसे शक्ति क्षीण होती है।

सम्पूर्ण जीवोंकी सत्ता जिस सत्तासे है, उस सत्तामें मैं-मेरा-तेरा नहीं है। वही सत्ता हमारा स्वरूप है!

*** *** ***

मैं हूँ—ऐसी अपनी सत्ताका अनुभव होता है। 'मैं' के कारण 'हूँ' है, अन्यथा 'है' ही है! उस सत्तामें 'मैं' नहीं है, तभी भगवान्‌ने गीतामें निरहंकार होनेकी बात कही है—'**निर्ममो निरहङ्कारः**' (गीता २। ७१; १२। १३)। उस 'है' (सत्ता)-में स्थित रहो। इससे आगे कुछ नहीं है! इससे पूर्णता हो

जायगी! इसी बातको पकड़ लो, बाकी सब बातें कोई कामकी नहीं!

***　　　　***　　　　***

'मैं हूँ'—इसमें 'हूँ' में स्थित होनेके लिये भविष्य क्या है? भविष्य तो निर्माणमें होता है। 'है' तो सदा वर्तमान है, उसमें भविष्य कैसा? उसमें भविष्यकी आशा बहुत बाधक है। कलकी भी आशा न रखे। कलकी आशा भी जन्मान्तरोंतक हो जायगी! 'है' (सत्ता)-में कभी मलिनता आती ही नहीं! वह स्वत:सिद्ध सर्वथा शुद्ध, निर्मल है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)।

***　　　　***　　　　***

'है'-रूपसे अपनी सत्ता स्वत:-स्वाभाविक है। जैसे ब्राह्मण निरन्तर अपने ब्राह्मणत्वमें रहता है, ऐसे ही 'है' में स्वत:-स्वाभाविक रहो। कर्मयोगकी दृष्टिसे संसारकी धरोहर संसारको दे दो और ज्ञानकी दृष्टिसे स्वयंकी धरोहर स्वयंको दे दो। धरोहर ज्यों-की-त्यों दे देनेका नाम 'संन्यास' है। जिसमें निरन्तर रहते हो, उसीमें स्थित रहो और आगन्तुकसे मिलो मत—इतनी ही बात है। अपने घर (स्वयं)-में ही रहो, और घरमें रहते हुए ही सब काम करो। अपने घरसे बाहर मत निकलो!

***　　　　***　　　　***

एक बात ऐसी है कि निहाल हो जाय! भगवान्‌ने गीतामें परा और अपरा—दोनों प्रकृतियोंको अपना बताया है*। इसमें खास मार्मिक बात है—अहम्‌तक सम्पूर्ण अपरा प्रकृति भगवान्‌की है, अपनी नहीं है। अत: मन-बुद्धि-अहंकार भी अपने नहीं हैं, प्रत्युत अपरा प्रकृति होनेसे भगवान्‌के हैं। मन अपना नहीं हुआ, भगवान्‌का हुआ।

*साधक—मन संसारकी तरफ खिंचता है, तब?*

*स्वामीजी*—मन अपना नहीं है, अब वह कहीं भी जाय, हमें क्या मतलब? विधर्मीका छोरा कहीं भी जाय, हमें उससे क्या मतलब? हमारा उससे सम्बन्ध ही नहीं है, फिर कुछ भी हो!

***　　　　***　　　　***

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्—सबमें 'अपरा' के सिवाय और क्या है? आप स्वयं 'परा' हैं, शरीर 'अपरा' है। परा-अपराके सिवाय आप क्या हो? परा-अपरा दोनों भगवान्‌की प्रकृतियाँ हैं, तो फिर केवल भगवान् ही रहे! सब भगवान्‌पर चढ़ा दो, शेष (आपका) कुछ नहीं रहा! अत: मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये और मेरेको कुछ नहीं करना है। वास्तवमें 'मैं' भी कुछ नहीं। केवल भगवान् रहे और उनकी प्रकृति रही, और कुछ नहीं रहा! करना कुछ है ही नहीं!

***　　　　***　　　　***

परा और अपरा दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की हैं तो 'मैं' (परा) और 'मेरा' (अपरा) भी उसीके हुए; अत: मैं-मेरा नहीं रहा, केवल 'तू' और 'तेरा' ही रहा! अब करना, जानना, पाना कुछ भी बाकी नहीं रहा!

---

* **भूमिरापोऽनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥**
**अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥**

(गीता ७। ४-५)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश (—ये पञ्चमहाभूत) और मन, बुद्धि तथा अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी यह अपरा प्रकृति है; और हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।'

*साधक—अब इसका अनुभव कैसे हो?*

*स्वामीजी*—अपनी जगह भगवान् हैं—ऐसा करके चुप हो जाओ। अपनापन छोड़ दो। 'मैं' माने परमात्मा! अनुभव हो जायगा! इसमें दृढ़तासे स्थित रहो। इसका आदर करो। केवल तू-तेरा है। अभी मैं-मेरापनका संस्कार है। मैं-मेरापनका संस्कार न रहे तो परमप्रेमकी प्राप्ति हो जायगी।

*** *** ***

शरीर 'अपरा' के साथ एक है और शरीरी 'परा' के साथ एक है। अपरा और परा दोनों भगवान्से अभिन्न हैं। अत: शरीर और शरीरी दोनों एक भगवान् ही हुए! अब कमी क्या रही?

*साधक—बात समझमें आ गयी, पर अनुभव नहीं हुआ! अभी जड़ता दीखती है!*

*स्वामीजी*—सुखभोगबुद्धिके कारण जड़ता दीखती है। जब भोगी नहीं रहेगा तो फिर जड़ता भी नहीं रहेगी। कारण कि भोगबुद्धि मिटनेसे अनित्य-सम्बन्ध मिट जायगा और परमात्माका नित्य-सम्बन्ध प्रकट हो जायगा।

अब पहलेका सुखभोगका आकर्षण रहा, पहलेका संस्कार रहा। वह 'चुप' होनेसे मिट जायगा। कोई आदमी मरनेके लिये परिश्रम करता है क्या? जैसे शरीर अपने-आप मरता है, ऐसे ही असत्का संस्कार भी अपने-आप मिट जायगा।

अब इन तीन बातोंमें स्थित हो जाओ कि १) मेरा कुछ नहीं है, २) मेरेको कुछ नहीं चाहिये और ३) मेरे लिये कुछ नहीं करना है। फिर कुछ भी, किंचित् भी बाकी नहीं रहेगा। सत्तामात्रमें स्थित होनेपर फिर जो अनन्त-अपार सत्ता है, उसके शरण हो जाओ। अपनी सत्ताको अनन्त सत्ताके अर्पित कर दो।

जड़ताका स्वभाव स्वत: नाशकी ओर जाना है। हम ही सुखबुद्धिसे उसके साथ अपना सम्बन्ध मानकर उसको जीवित रखते हैं, उसकी जड़में जल देते हैं! यह सम्बन्ध ही बाधक है।

*** *** ***

आप चाहे कैसे हों, आपकी वृत्तियाँ चाहे कैसी हों, खास बात यह है कि आप चाहते क्या हैं? आपमें सुखभोगकी इच्छा है और आप उसको छोड़ना चाहते हैं, तो इसका सुगम उपाय यह है कि सुखकी इच्छा आपको अच्छी न लगे। अच्छी क्यों न लगे? क्योंकि सुख रहता नहीं, चला जाता है, पर हम स्वयं निरन्तर रहते हैं। अत: ऐसा सुख हमें नहीं चाहिये—इसपर दृढ़ रहो तो फिर चाहे सुखभोगकी कामना न छूटे, पर सुख भोगते-भोगते एक दिन उससे अरुचि हो ही जायगी, वह छूट ही जायगा! केवल यह दृढ़ता रहे कि जो रहता नहीं, वह हमें चाहिये नहीं।

*** *** ***

साधन करते-करते कोई विकार आ जाय, कभी असत् (शरीरादि)-की सत्ता दीखने लगे तो उसको महत्त्व नहीं देना चाहिये, प्रत्युत उपेक्षा कर देनी चाहिये। साधकसे यही भूल होती है कि वह असत्को आदर देता है। मूलमें इसका कारण यह है कि साधक मुक्तिको तो कृतिसाध्य मान लेता है और बन्धनको स्वाभाविक मान लेता है। अत: जैसे नामजप करनेवालेको (नामजपके सिवाय) अन्य प्रायश्चित्त करनेकी जरूरत नहीं है, ऐसे ही साधकको अन्य कुछ न करके अपने साधनको ही आगे बढ़ाना चाहिये अर्थात् असत्की सत्ताको मिटानेकी चेष्टा न करके सत्को ही आदर देना चाहिये। असत्को मिटायें क्या, वह तो मिटा हुआ ही है! केवल पुराने संस्कार सामने आ जाते हैं! उनसे साधक घबराये नहीं, उनकी उपेक्षा कर दे।

*** *** ***

सत्ता ज्ञानस्वरूप है। सत्ता है, उसका ज्ञान है और आनन्द है। अपनी स्थिति 'है' में है। सब व्यक्ति, वस्तुएँ अलग-अलग हैं, पर 'है' एक है। सत्तामें सब सृष्टियाँ हैं, पर सृष्टियोंमें सत्ता नहीं है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, भूत-भविष्य-वर्तमान, सत्य-त्रेता-द्वापर-कलि आदि सब बदलते हैं, पर 'है' नहीं बदलता। उस 'है' में स्थित रहे, फिर आनन्द स्वतः आयेगा। उस आनन्दका भोग न करे, उसमें राजी न हो। सब विकार शान्त हो जायँगे! अतः 'है' में स्थित रहो। जो 'है' में स्थित है, वही तत्त्वज्ञ है, जीवन्मुक्त है, महात्मा है। जो उस 'है' को नहीं देखता, वह अन्धा है!

सत्तामें विकार कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। सत्तामें न मल है, न विक्षेप है, न आवरण है। सत्ता ज्यों-की-त्यों है। सत्ताको छेड़नेसे ही बन्धन होता है; क्योंकि छेड़ना क्रिया हो गयी!

साधक शंका करते हैं कि सब सुनने-समझनेपर भी अपनेमें कोई फर्क नहीं दीखता, तो इसका समाधान है कि फर्क असत्‌में पड़ता है। अगर फर्क पड़ता है तो वह सत् कैसे? 'है' में कोई फर्क नहीं पड़ता।

नारद, शिव, सनकादि आदि जिस 'है' में थे, उसी 'है' में हम भी हैं! फिर वे हमसे बड़े और हम उनसे छोटे कैसे हुए? 'है' में न कोई बड़ा है, न छोटा! 'है' में सब एक हैं!

*** *** ***

संगसे जन्म होता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१), पर स्वयंमें संग है ही नहीं, फिर जन्म कैसे हो? सब व्यवहार करते हुए भी नित्य सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। इस बातको समझ लिया तो फिर 'नहीं' में दृष्टि रह नहीं सकती और 'है' से दृष्टि हट नहीं सकती! अब लक्ष्य चला गया, यही प्राप्ति है! यही ***'सतगुरु भेद बतायो'*** है! प्राप्ति होनेपर कोई सींग थोड़े ही निकल आते हैं! नया कुछ नहीं होता।

अभी आचरण ठीक न दीखें, विकार दीखें तो घबराओ मत। नित्य सत्तामें क्या फर्क पड़ता है? साँप देखकर डर गये, पर मालूम पड़ा कि यह तो रस्सी है, फिर भी हाथ काँप रहे हैं, हृदयमें धड़कन हो रही है! पर यह अधिक समयतक रहेगी नहीं, अपने-आप बन्द हो जायगी। राग-द्वेष आदि सब धड़कन है, उनसे डरो मत!*

चाहे कुछ हो जाय, सत्ता ज्यों-की-त्यों है। यह इतनी ठोस बात है कि सुई भी प्रवेश नहीं कर सकती, शंकाके लिये स्थान ही नहीं है! सब समय काम करते समय यह जागृति रहे कि एक 'है'......उसमें कोई फर्क पड़ता ही नहीं!

---

* तत्त्वज्ञान होनेके बाद फिर तत्त्वनिष्ठा होती है। तत्त्वनिष्ठा समय पाकर अपने-आप होती है। उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता; जैसे—वृक्षकी जड़ कटनेपर भी पत्ते हरे रहते हैं, पर वे अपने-आप सूख जाते हैं; काँटा निकलनेपर भी पीड़ा रहती है, पर वह अपने-आप मिट जाती है; आग बुझनेपर भी राखमें गरमी रहती है, पर वह अपने-आप शान्त हो जाती है; सुबह सोकर उठते हैं तो पहले आँखोंमें भारीपन रहता है, सब कुछ धुँधला दीखता है, पर थोड़ी देरमें सब कुछ साफ दीखने लगता है।

साधककी प्रकृतिके अनुसार तत्त्वनिष्ठा होनेमें कम या अधिक समय लग सकता है। लोकमें भी देखा जाता है कि जुकाम लगनेपर शरीरकी प्रकृतिके अनुसार किसीका जुकाम जल्दी ठीक हो जाता है, किसीका बहुत दिनोंके बाद।

**दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।**
**दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥**

अब जीवन्मुक्तिमें क्या कमी है!!

*** *** ***

सत्ता एकमात्र सत्-तत्त्वकी ही है.......वही है.......वही है, संसारकी सत्ता है ही नहीं.......है ही नहीं.......आज, अभी यह बात पक्की कर लो!

जो भी सत्ता और महत्ता दीखनेमें आती है, वह सब सत्‌की ही है। असत्‌की सत्ता और महत्ता है ही नहीं। सबका सनातन और अव्यय बीज 'सत्' ही है—

**'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्'** (गीता ७। १०)
**'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्'** (गीता ९। १८)

अगर असत् (सृष्टि)-की सत्ता न मानें तो बीज भी नहीं है! एक सत्-ही-सत् है। अब इसमें क्या अभ्यास है? क्या चिन्तन है? क्या समझना है? क्या दृढ़ करना है? जब है ही वही तो इसमें अब क्या सोचें? वही है, असत् है ही नहीं, बस, इतनी ही बात है, और कुछ नहीं!! सिवाय सत्ताके और कुछ है ही नहीं। इसमें अब कुछ करना ही नहीं है, कुछ सोचना ही नहीं है! चाहे स्वीकार करो, चाहे स्वीकार मत करो, यह तो है ही! यही बोध है, बोध होता नहीं।

*साधक—अपनेमें पूर्णता नहीं दीखती!!*

*स्वामीजी*—पूर्णता-अपूर्णता तो संसारमें है। सत्तामें पूर्णता-अपूर्णता है ही नहीं। न पूर्ण है, न अपूर्ण है। न सत् है, न असत् है। न नित्य है, न अनित्य है। पूर्ण-अपूर्ण, सत्-असत्, नित्य-अनित्य—ये सभी सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। इसलिये तत्त्वको क्या कहें? कैसे कहें?

*साधक—रसकी निवृत्ति तो नहीं हुई!!*

*स्वामीजी*—रस है ही नहीं, फिर निवृत्ति किसकी हो?

*साधक—संसारमें आकर्षण होता है!!*

*स्वामीजी*—संसारका आकर्षण है ही नहीं! आकर्षण असत् है, पर तत्त्व सत् है। आकर्षण और विकर्षण, उपरति और आसक्ति, सकामभाव और निष्कामभाव आदि कुछ नहीं है, केवल एक तत्त्व ही है!

क्या आकर्षण हरदम रहता है? हरदम नहीं रहता तो वह है ही नहीं। जो किसी समय नहीं है, वह किसी भी समय नहीं है! जो कभी नहीं है, वह कभी भी नहीं है! वह तत्त्व समझमें न आता है, न जाता है! अब जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसकी तरफ क्या देखें? **'मया सर्वम् इदम् ततम् और सब खतम'**!!

*साधक—परमशान्तिका अनुभव तो हो नहीं रहा है!!*

*स्वामीजी*—न परा शान्ति है, न अपरा शान्ति है। एक विधर्मी कन्धेपर एक लड़कीको बैठाकर ले जा रहा था। लोगोंने पूछा कि बेटा है या बेटी? तो वह बोला—बेटा-बेटी सब इसीके भीतर है! तात्पर्य है कि मेरी उपर्युक्त बात मान लो, फिर सब हो जायगा! अभी क्यों विचार करो?

*** *** ***

जैसे पृथ्वी स्वाभाविक स्थित है, वायु स्वाभाविक बहती है, आकाश स्वाभाविक स्थित है, ऐसे

ही तत्त्व स्वाभाविक स्थित है; उसमें क्या करना है? कुछ करना-कराना नहीं है। वायु बहती है तो इसमें करना क्या है? इसमें करना अथवा न करना है ही नहीं। ख्याल करें अथवा न करें, पृथ्वी तो है ही, उसमें क्या फर्क पड़ता है? ऐसे ही तत्त्व तो है ही! उसमें अब क्या कहें? उसका वर्णन कैसे करें? कुछ कहना बनता नहीं! न राग है, न द्वेष है, कुछ नहीं है। एक 'है' ही है। इसीको कहा है—

**है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।**
**नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥**

*** *** ***

किसी मकानको साफ करना हो तो झाड़ूसे कूड़ा-करकट दूर करके झाड़ूको भी दूर कर देते हैं; क्योंकि झाड़ू और कूड़ा-करकट दोनों एक जातिके हैं। इसमें एक मार्मिक बात है कि वास्तवमें 'झाड़ू' भी नहीं है, 'कूड़ा-करकट' भी नहीं है और कूड़ा-करकटको दूर करनेका 'उद्योग' भी नहीं है, प्रत्युत केवल 'मकान' ही है! तात्पर्य है कि केवल 'है' ही है, बाकी सब माना हुआ है!

*** *** ***

संसार अभावरूप है—यह न माननेपर ही बात अटकी हुई है! यह अभावरूप ही है, नहीं तो अपना बचपन अब दिखा सकते हो क्या? अभी तुम यहाँ आकर बैठे, वह क्षण दिखा सकते हो क्या? सौ साल पहले यह सब था? सौ साल बाद यह सब रहेगा? अतः तुम संसारको भावरूप मत मानो—इतनी ही बात है!.......मानोगे कि नहीं?.......पहले भी अभाव, पीछे भी अभाव और प्रत्यक्षमें भी अभाव, तो यह अभावरूप ही हुआ*। भावरूप केवल परमात्माकी सत्ता ही रही।

संसारको अभावरूप न जानकर भावरूप मान रखा है—यही बाधा है, और कोई बाधा नहीं। सच्ची बातको स्वीकार कर लो, खत्म हुआ काम!

संसारका तीनों कालोंमें अभाव है। अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, पर सब अभावरूप हैं! '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)—बस, इतना ही जानना है। मैंने पूरी-की-पूरी बात कह दी, अब सो जायँ तो क्या, मर जायँ तो क्या!! *(दिनांक १५.१.२००१)*

*** *** ***

शरीरोंपर दृष्टि न रखें तो सभीकी सत्ता एक है। 'स्वयं' की सत्ता है, अभी है, यहाँ है, हमारी है—यह सभी कह सकते हैं; क्योंकि यह सभीका अनुभव है। ऐसा अनुभव होनेमें योग्यता आदिकी

---

* विचारपूर्वक देखें तो जिसे हम 'वर्तमान' कहते हैं, वह वास्तवमें भूत और भविष्यकी सन्धि है। व्याकरणमें भी आया है—'**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा**' (पाणिनि० ३। ३। १३१)। तात्पर्य है कि यदि हम वर्तमानको ढूँढ़ें तो वह मिलेगा नहीं। केवल भविष्य ही निरन्तर भूतमें परिवर्तित हो रहा है। जैसे, हम घड़ीको देखें तो सेकेण्डकी सूई निरन्तर भाग रही है। उससे भी सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो घड़ीके भीतर उसकी मशीन निरन्तर (सेकेण्डकी सूईसे भी तेज) चल रही है। अतः हम घड़ीकी बड़ी सूईको देखकर ही जान सकते हैं अभी इतने बजे हैं, पर सेकेण्डकी सूईको अथवा घड़ीके भीतरकी मशीनको देखकर नहीं जान सकते कि अभी इतने बजे हैं। इसलिये श्रीस्वामीजी महाराज कहते थे कि संसारमें इतनी तेजीसे परिवर्तन हो रहा है कि इसे हम दो बार नहीं देख सकते! दूसरी बार देखते ही वह बदल गया! अतः यह बात सिद्ध हो गयी कि भूत और भविष्यकी सन्धिके सिवाय 'वर्तमान' नामकी कोई वस्तु है ही नहीं! आगे विचार करें तो वास्तवमें भूत भी नहीं है और भविष्य भी नहीं है; क्योंकि भूत तो बीत गया और भविष्य अभी आया ही नहीं! इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो गया कि संसारमें न तो भूत है, न भविष्य है और न वर्तमान ही है अर्थात् संसार अभावरूप ही है।

क्या आवश्यकता है? योग्यता आदिकी जो बात कही जाती है, वह सब ढकोसला है!!

यह अन्तिम साधन है, और यह साधन सबके लिये है। इसमें कोई क्रिया नहीं है। ज्ञानयोग आदि सभी साधन बुद्धि आदिकी योग्यताको लेकर अलग-अलग होते हैं, पर इस साधनमें सब एक हो जाते हैं।

*** *** ***

लोग मुझे त्यागी कहते हैं, पर मैं न त्यागी हूँ, न रागी। क्या त्यागी और क्या रागी! अपनेमें क्या लक्षण हैं—इसको देखना ही नहीं है। अपनेको देखनेसे कमी ही दीखेगी। उम्रभर देखते रहो, कमी दीखती रहेगी।

अच्छी-बुरी वृत्तियाँ आती हैं तो साधक उसकी चिन्ता न करे। वे आने-जानेवाली हैं। दशाको न देखकर अपने स्वरूपको देखे। अच्छी-बुरी वृत्तियाँ तो जीवन्मुक्तमें भी आती हैं—

**प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।**
**न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥**

(गीता १४। २२)

'हे पाण्डव! प्रकाश (सत्त्वगुणका कार्य), प्रवृत्ति (रजोगुणका कार्य) तथा मोह (तमोगुणका कार्य)—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो भी इनकी इच्छा नहीं करता।'

भगवान् श्रीरामके तीन सखा थे—गुह (सिद्ध), विभीषण (साधक) और सुग्रीव (भोगी)। सुग्रीव भोगी था, फिर भी भगवान् उसको अपना सखा मानते हैं। अत: हम कितने ही भोगी, पापी क्यों न हों, भगवान् हमें अपना मानते हैं! कैसी ही वृत्ति आये, पर भगवान् अपने हैं, अभी हैं, मेरेमें हैं—इस वास्तविकतामें कभी किसी अवस्थामें अन्तर नहीं आता।

अब प्रश्न होता है कि गुणातीत पुरुष तो अच्छी-बुरी वृत्तियाँ आनेपर उनसे निर्लिप्त रहता है, पर हम लिप्त हो जाते हैं, उसके अनुसार क्रिया भी कर बैठते हैं! तो भी निराश होनेकी बात नहीं! लिप्तता अथवा क्रिया भी तो निरन्तर नहीं रहती! उसपर दृष्टि न रखकर निरन्तर रहनेवाले स्वरूपपर दृष्टि रखो। फिर आप बिल्कुल जीवन्मुक्त हो! लोग कहें कि आचरण अच्छे होनेपर ही तत्त्वप्राप्ति होती है तो उनकी बातका आदर करो, पर स्वयं ऐसा न मानकर वही बात मानो, जो मैंने अभी कही है। ऐसा समझो कि एक तो आचरण ठीक होनेपर तत्त्वप्राप्ति होती है, एक तत्त्वप्राप्ति होनेपर आचरण ठीक हो जाते हैं। आप दूसरी बात मानो।

*** *** ***

जीव ईश्वरका अंश होनेसे अमल है—***ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥*** (मानस, उत्तर० ११७। १)। दोष ऊपरसे चिपकाए हुए हैं, वास्तवमें हैं नहीं। जैसे मुखपर साबुन लगानेसे मुख विकृत दीखता है, पर हम दु:खी नहीं होते; क्योंकि वह हमारा स्वरूप नहीं है, पानी डालते ही साबुन बह जायगा। ऐसे ही दोष हमारा स्वरूप नहीं है। जैसे बुखार आगन्तुक दोष है, ऐसे ही अवगुण आगन्तुक दोष हैं। दोष आये और चले गये, पर हम ज्यों-के-त्यों हैं।

आप दोषोंको तो महत्त्व देते हैं, पर निर्दोषताको महत्त्व क्यों नहीं देते? भगवान्‌ने वराहरूप भी धारण किया और नरसिंहरूप भी धारण किया, पर उनमें क्या फर्क पड़ा? भगवान् तो वही रहे! ऐसे ही दोष आगन्तुक हैं, पर तत्त्व वह-का-वह ही है! युद्ध भी करना पड़े तो सत्तामें क्या फर्क

पड़ा?

*** *** ***

कभी कम प्रकाशमें कम दीखता है, कभी अधिक प्रकाशमें साफ दीखता है तो क्या आँख खराब हो गयी? आँख तो वैसी ही है। ऐसे ही वृत्तियाँ ठीक हो जायँ या खराब हो जायँ, स्वयंमें क्या फर्क पड़ा? चांगदेवकी वृत्तियाँ ठीक हो गयीं, वे सिद्ध हो गये, पर ऐसा होनेपर क्या उनको बोध हो गया? छोटी-सी लड़की मुक्ताबाईने उनको फेल कर दिया! वृत्तियोंके ठीक होनेकी कीमत नहीं है, कीमत बोधकी है। राग-द्वेष हो भी गये तो वे अपनेमें नहीं हुए। कुत्तेके अन्तःकरणमें राग-द्वेष हो गये तो आपमें क्या फर्क पड़ा? आपका सम्बन्ध जितना कुत्तेके अन्तःकरणके साथ है, उतना ही इस अन्तःकरणके साथ है! जो '**सर्वगत**' (सबमें परिपूर्ण) है*, उसमें कहीं-न-कहीं (किसी-न-किसी व्यक्तिमें) राग-द्वेष तो आयेंगे ही, फिर बोध कैसे होगा? आपने केवल एक देहका अभिमान पकड़ा है, एक देहको अपना माना है, इसीलिये उसमें आये राग-द्वेषादिका असर पड़ता है।

दोष असत् हैं। असत्की सत्ता विद्यमान है ही नहीं। जिस अवस्थामें राग-द्वेष पैदा होते हैं, वह अवस्था भी आपमें नहीं है, फिर राग-द्वेष आपमें हो ही कैसे सकते हैं?

*** *** ***

हम निर्विकार हो जायँ—ऐसी इच्छा करके साधक विकार (शरीर)-में ही निर्विकारताको देखना चाहता है! वास्तवमें तो विकारोंसे असंग होना है।

काम-क्रोधादि विकार भी विकार (मन-बुद्धि)-में ही आते हैं, निर्विकारमें नहीं। उनका प्रभाव अपनेपर पड़ता नहीं, प्रत्युत प्रभाव मानते हैं। आप स्वयं निर्विकार हैं। अगर विकारोंका प्रभाव पड़ता तो स्वयं निर्विकार कैसे?

स्वतःसिद्ध निर्विकार स्थिति सभीकी है, केवल उधर ध्यान देना है। कितने ही काम, क्रोध, लोभ, शोक, चिन्ता आदि आ जायँ, वे जानेवाले हैं, पर हम सदा रहनेवाले हैं। विकार वास्तवमें विकार (मन-बुद्धि)-में ही होते हैं, अपनेमें नहीं। मन-बुद्धिको अपना मानना जितना दोषी है, उतने विकार दोषी नहीं हैं! अपनापन ही मूल विकार है। कसौटी कसते ही 'मन-बुद्धि मेरे हैं'—इसकी सिद्धि होती है। अतः मन-बुद्धिसे अपनापन हटाना है, विकारोंको नहीं! मुक्ति स्वतःसिद्ध है, बन्धन प्रयत्नसाध्य है!

*** *** ***

भूतकालकी बातको लेकर अपनी कसौटी कसना बहुत बड़ी गलती है! मान-आदर होनेसे प्रसन्नता हुई तो वह मन-बुद्धिमें हुई, अपनेमें नहीं। उसको पकड़ो मत। जिसमें मान-बड़ाईका भाव और अभाव—दोनों दीखते हैं, वही आपका स्वरूप है। जिसका असर पड़ता है और जिसमें असर पड़ता है—दोनों ही एक जातिके हैं और अपनेसे अलग हैं। भाव और अभाव जिससे प्रकाशित होते हैं, वही आपका स्वरूप है। यह मामूली बात नहीं है! जिसमें कोई फर्क नहीं पड़ा, वही आपका स्वरूप है। स्त्रीका आकर्षण सबसे प्रबल होता है, पर वह आकर्षण स्वयंमें कहाँ है? जब असर पड़ता है, सजातीयतामें अर्थात् मन-बुद्धिमें पड़ता है, स्वयंमें नहीं।

*** *** ***

---

* **नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥** (गीता २। २४) 'यह शरीरी नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।'

काम-क्रोधादि विकार आते-जाते हैं, पर स्वरूप वही रहता है। साधक उस स्वरूपको ही देखे। स्वरूपमें दोष नहीं है। कसाईके भी स्वरूपमें गलती नहीं है! गलती उसके स्वभावमें है। अत: विकारोंको देखकर साधकको अपनी कसौटी नहीं लगानी चाहिये कि मेरे विकार दूर हुए हैं कि नहीं, प्रत्युत अपने स्वरूपमें स्थित रहना चाहिये। कसौटी लगाना सिद्धोंका काम है, साधकोंका नहीं। तात्पर्य है कि जिनको अपने गुणोंका अभिमान है, जो अपनेको सिद्ध मानते हैं, उनको कसौटी लगानी चाहिये।

*** *** ***

क्रोध पहले ज्यादा आता था, अब कम आता है तो अपनेमें क्या फर्क पड़ा? पहले क्रोध ज्यादा आता था, अब क्रोध थोड़ा आता है तो क्रोध थोड़ा होनेका भोग हुआ; क्योंकि क्रोध थोड़ा होनेसे राजी हो गये! राजी होना भोग है*। क्रोधके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया—यह गलती हुई! अच्छा हो या मन्दा, उससे सम्बन्ध जोड़ लिया—यही गलती हुई!

*** *** ***

साधक अपनेमें विशेषता देखना चाहता है। विशेषता नहीं दीखती तो व्याकुलता होती है। अपनेमें विशेषता देखना अहम्‌को पुष्ट करता है। अहम्‌को पुष्ट करनेसे विशेषता कैसे आयेगी? अत: विशेषताको न देखकर व्याकुल होना बढ़िया नहीं है, प्रत्युत परमात्माके लिये व्याकुल होना बढ़िया है। वास्तवमें विशेषताको न देखना ही विशेषता है। अगर अपनेमें विशेषता देखना चाहते हो तो कुत्तेमें क्यों नहीं देखना चाहते? कारण कि अन्त:करणको आपने अपना मान लिया। अगर विकार दीख जाय तो बेपरवाह कर दो कि अपनेमें क्या फर्क पड़ा? 'मैं'-पनमें विशेषता नहीं देखनी है। 'मैं'-पनका त्याग करना विशेषता है।

*** *** ***

कितने आश्चर्यकी बात है कि जो कभी न बदलनेवाला, ज्यों-का-त्यों रहनेवाला अपना स्वरूप है, उसने नित्य-निरन्तर बदलनेवालेके साथ केवल मान्यतामात्रसे संग कर लिया तो चौरासी लाख योनियोंमें चला गया और युगोंसे दु:ख पा रहा है मुफ्तमें! अब वह नित्य, स्वत:सिद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाय तो यह कितनी सुगम बात है! इसमें करण क्या करेगा? क्रिया क्या करेगी? कर्ता क्या करेगा? इसमें क्या परिश्रम है? परिश्रमकी गंध भी नहीं है! इसमें कुछ करना सम्भव ही नहीं है! कितनी सुगम बात है! अब इसके लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना इस तत्त्वसे विमुख होना है!! इसमें बाधा है—केवल संयोगजन्य सुखलोलुपता।

केवल परिवर्तनशीलके साथ सम्बन्ध माननेसे कितना अनर्थ कर लिया! बिल्कुल फालतू अनर्थ! असंगता स्वत:सिद्ध है। जो किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें हमारेसे अलग नहीं हो सकता और हम उससे अलग नहीं हो सकते, उसके लिये परिश्रम कैसा? उसके लिये करना क्या? केवल उसकी तरफ ख्याल करना है—***'संकर सहज सरूपु सम्हारा'*** (मानस, बाल० ५८। ४)। वह हमारेसे कभी अलग था नहीं, अलग है नहीं, अलग होगा नहीं, अलग हो सकता नहीं। वह स्वत:-स्वाभाविक, नित्य-निरन्तर हमें प्राप्त है। इसमें कुछ करना सम्भव ही नहीं है। इससे सुगम और क्या हो सकता है? कुछ करना नहीं, कुछ लाना नहीं, कहीं जाना नहीं!

जिसको बदलनेवालेका ज्ञान है, वह नहीं बदलता। नहीं बदलनेवाला ही बदलनेवालेको देख सकता

---

* जब विकार अपनेमें हैं ही नहीं तो फिर उनके कम-ज्यादा होने-से हमें क्या मतलब? यदि उनके कम-ज्यादा होनेसे हम राजी-नाराज होते हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि हमने उन्हें अपनेमें मान लिया, उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया, जो एक भूल है।

है। ऐसे ही विकारोंको देखनेवालेमें क्या विकार है? शरीर-संसार नाशवान् हैं—यह सबके अनुभवकी बात है। नाशवान् दीखनेमात्रसे अविनाशीपना सिद्ध होता है; क्योंकि नाशवान्को अविनाशी ही देख सकता है। अब इसके लिये क्या श्रवण करें, क्या मनन करें, क्या निदिध्यासन करें?

एक अक्रिय तत्त्व है, जिससे सम्पूर्ण क्रियाएँ दीखती हैं। सभी क्रियाओंमें एक अक्रिय तत्त्व ज्यों-का-त्यों है। सभी लोक अवधिवाले हैं, पर 'है' अवधिवाला नहीं है। अब बताओ कि इसमें किस चीजकी बाधा है?

*साधक—संसारका आकर्षण है, यह कैसे मिटे?*

*स्वामीजी*—आकर्षण किसमें है?

*साधक—स्वयंमें दीखता है।*

*स्वामीजी*—वास्तवमें स्वयंमें है ही कहाँ? आकर्षण मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, अहम्में है, स्वयंमें कहाँ है? संसार बहता है। क्या स्वयं भी बहता है?

*साधक—दीखता ऐसा है कि स्वयं भी बह गया!*

*स्वामीजी*—पूर्वसंस्कारसे बहना दीखता है, वास्तवमें बहता नहीं है। अतः उसकी परवाह मत करो, उपेक्षा करो। वास्तविकताकी तरफ दृष्टि रखो। आकर्षण तो निरन्तर मिट रहा है और अपने-आप मिट जायगा। उसकी उपेक्षा कर दो। मेरेमें आकर्षण है, आकर्षण मिटता नहीं—इस भावसे ही आकर्षण टिका हुआ है। हम सब भगवान्‌रूपी कल्पवृक्षके नीचे हैं, इसलिये हम जैसा भाव रखेंगे, वैसा ही हो जायगा।

आकर्षण अपनेमें नहीं है—यह बड़ा भारी अस्त्र है!! आकर्षण मन-बुद्धिमें है, और जैसे शरीर-संसार अपने-आप मिटता है, ऐसे ही आकर्षण भी अपने-आप मिट जायगा। यही **'मद्रूप उभयं त्यजेत्'** है! मन-बुद्धिका संसारमें आकर्षण हो रहा है, मानो गधेका गधीमें आकर्षण हो रहा है, तो हमारेमें क्या फर्क पड़ा? हमारा आकर्षण कैसे?

विकार अपने-आप मिट जायँगे, उनकी परवाह मत करो। पानीमें घुली मिट्टी अपने-आप बैठ जायगी। वह क्या परिश्रम करनेसे बैठेगी? क्या उसको बैठानेके लिये कुछ करना पड़ेगा? उसको हाथसे बैठाना चाहोगे तो क्या वह बैठ जायगी? उल्टे और फैलेगी!

*** *** ***

अनुभव होता नहीं, अनुभव तो है; केवल उधर दृष्टि नहीं है। दृष्टि जानेका अर्थ है—लक्ष्य होना। दृष्टि एक ही बार जाती है, बार-बार नहीं। कारण कि बार-बार दृष्टि जाना अभ्यास है। अभ्याससे पुरानी बात रद्दी होती है! तात्त्विक बात भीतर पड़ी-पड़ी स्वतः पकती है—**'विद्या कालेन पच्यते'**। पकते ही दृष्टि हो जाती है कि 'ओहो! यह बात है!! मैं तो मुफ्तमें ही दुःख पाता था!!' फल पकनेमें क्या कुछ करना पड़ता है?

एक मार्मिक बात है कि तात्त्विक बात फलकी तरह पहले कच्ची तथा फिर पकती नहीं! वह तो पकी हुई ही है! हमने असत्को सत्ता दे रखी है—यही कच्चापना है। असत्की सत्ताकी मान्यता मिटती है तो यह बात पकी हुई दीखती है। बनावटी चीज मिटती है तो असली चीज रह जाती है। बनावटी चीज तो मिटेगी ही और रहनेवाली चीज रहेगी ही। परमात्माने सृष्टि बनायी तो सृष्टि मिटेगी और एक परमात्मा ही रहेंगे—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

'है'-पना (सत्‌की सत्ता) तो दृढ़ ही है। 'नहीं' का नहीं-पना समझमें आ जायगा तो 'है'-पना दृढ़ दीखने लग जायगा। केवल सुखलोलुपतासे बाधा लग रही है, जिससे तत्त्वकी तरफ दृष्टि नहीं होती। मुझे तत्त्वको जानना है—ऐसी लगन, व्याकुलता हो जाय तो चट दृष्टि हो जायगी!

*** *** ***

एक बात बता रहा हूँ। ख्याल करो तो अभी-अभी जीवन्मुक्ति है! बहुत ही मार्मिक बात है! गीतामें एक जगह तो आत्माको **'अचल'** कहा है (२। २४) और दूसरी जगह **'संयाति'** (आने-जानेवाला) कहा है (२। २२)। तत्त्वको लेकर **'अचल'** कहा है और शरीरको लेकर **'संयाति'** कहा है। जैसे, गंगाजी बहती हैं, पर उसमें स्थित शिला नहीं बहती। गंगाजी कभी स्वच्छ होती हैं, कभी मैली होती हैं, कभी उसका जल कम हो जाता है, कभी जल बढ़ जाता है, कभी कोई मुर्दा बहता हुआ आ जाता है, कभी मछलियाँ आ जाती हैं, पर शिला ज्यों-की-त्यों रहती है! फर्क गंगामें पड़ता है, शिलामें नहीं। ऐसे ही निरन्तर बहते हुए शरीर-संसारमें स्वयं शिलाकी तरह अचल, निर्लिप्त रहता है।

*** *** ***

भगवान् कहते हैं—**'मया ततमिदं सर्वम्'** (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरेसे व्याप्त है'। तात्पर्य है कि सब जगह एक 'है' ही है। उस 'है' में मैं-तू हैं ही नहीं, अहं-मम हैं ही नहीं, राग-द्वेष हैं ही नहीं, फिर मिटायें क्या? भगवान् कहते हैं—

**मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।**
**अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥**

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आपलोग विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

सब इन्द्रियोंसे भगवान्‌का ही ग्रहण हो रहा है, अब उसमें क्या करना और क्या न करना? क्या अहंता मिटानी और क्या ममता मिटानी? क्या लेना और क्या देना? क्या बोलना और क्या सुनना? क्या मिलना और क्या खोना? क्या आ गया और क्या चला गया? उसमें आकर्षण, मोह, खिंचाव कहाँ है?

उसमें न बड़ा है, न छोटा है। न बढ़िया है, न घटिया है*। न कठिनता है, न सुगमता है; क्योंकि है ही वही! न लाभ है, न हानि है। न आना है, न जाना है। प्रकाश हो जाय, धुआँ छा जाय, बादल आ जायँ, बिजली कड़कने लगे, वर्षा होने लगे, ओले पड़ने लगें, पर आकाशमें क्या फर्क पड़ता है? ऐसे ही सर्ग हो जाय, प्रलय हो जाय, अकाल पड़ जाय, बाढ़ आ जाय, महान् उथल-पुथल हो जाय, उस 'है' में क्या फर्क पड़ता है?

*** *** ***

---

*** किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्। वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च॥**

(श्रीमद्भा० ११। २८। ४)

'संसारकी सब वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं और मनसे सोची जा सकती हैं; अतः वे सब असत्य हैं। जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है तो फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा?'

सत्‌का विभाग अलग है और असत्‌का विभाग अलग है। इसमें अब क्या अभ्यास करना? क्या जानना? क्या समझना? यह बात है ही यों ही! केवल अपने संस्कार ही बाधा दे रहे हैं; जैसे—१) असत्‌को महत्ता दे रखी थी, उसके संस्कार २) सब काम धीरे-धीरे होते हैं—यह संस्कार ३) इतना पुराना अज्ञान इतनी जल्दी कैसे मिटेगा—यह संस्कार। यह बिल्कुल गलती है। गुफामें लाखों वर्षोंका अन्धकार हो, पर प्रकाश करते ही तत्काल नष्ट हो जाता है।

पहले भी ये बातें सुनीं, अब फिर सुन लीं तो क्या फर्क पड़ा—ऐसी शंका भी बिल्कुल झूठी है! अगर पहलेवाली दशा ही रहे तो अनपढ़ आदमी पढ़ कैसे सकेगा?

सत् और असत्‌का विभाग ही अलग है—यह बिल्कुल सच्ची बात है। सच्चाईमें कच्चाई कैसे? और कच्चाईमें सच्चाई कैसे? यह मानी हुई या बनायी हुई बात नहीं है, यह तो है ही ऐसी! इसपर दृढ़ रहे तो अभी मुक्ति है। अब कामना कैसे हो सकती है? वास्तवमें इसमें अदृढ़ता होती ही नहीं! दृढ़ता-अदृढ़ता तो अभ्यासमें होती है। अभी जान लो तो यह सदाके लिये हो जायगा। यही सब ऋषियोंका ज्ञान है! इस बातको जान लिया तो अब जन्म-मरण कैसे होंगे?

जन्म-मरणका विभाग ही अलग है। हमारा जन्म-मरण तो कभी हुआ ही नहीं! जन्म और मरण दो हैं। इन दोका ज्ञान जिसको है, उसमें जन्म-मरण कैसे? जब अनेक योनियोंमें जानेपर भी स्वयं वही रहा, तो फिर जन्म-मरण स्वयंके कैसे हुए? स्वयंमें क्या फर्क पड़ा?

वास्तवमें स्वयं कभी बँधा ही नहीं, स्वयंके जन्म-मरण हुए ही नहीं, स्वयंका भोगोंमें आकर्षण हुआ ही नहीं, स्वयंने असत्‌को महत्ता दी ही नहीं*, स्वयंमें विकार हुए ही नहीं—‘**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**’ (गीता १३। ३१) ‘यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है!’

निर्विकार जीवन स्वतः है—इसपर विश्वास न करनेसे ही साधक निराश होता है।

*** *** ***

साधकके लिये खास बात है कि संसारसे कितना ही घुल-मिल जायँ, तो भी ‘**न करोति न लिप्यते**’ रहे (गीता १३। ३१)। सत्ता लिप्त कैसे होगी—यह बात हरदम रहनी चाहिये। युद्ध भी करना पड़े तो सत्तामें क्या फर्क पड़ा? सच्ची बातको मान लो। अनुभव न हो तो भी वास्तविकता तो वास्तविकता ही रहेगी। कमजोरी मन-बुद्धिमें, अहंतामें है, सत्तामें नहीं। अवस्था कमजोर है, पर तत्त्व कमजोर नहीं है। नकली स्थितिको लेकर असली बातका निरादर मत करो।

मेरी बातका आदर नहीं करते, पर ‘बोध नहीं हुआ’ इसको आदर देते हो! यह भूल है!

*** *** ***

आज यह बात विशेषतासे आयी है कि क्रियामात्र प्रकृति-विभागमें ही है। सृष्टि स्वतः चल रही है। स्वतः क्रिया हो रही है। परन्तु अहम्‌के साथ मिलनेसे ‘मैं कर्ता हूँ’ ऐसा मान लेता है—‘**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**’ (गीता ३। २७)। संसारकी क्रिया तो स्वतः हो रही है, उसमें कर्तृत्वकी क्या जरूरत है?

सभी क्रियाएँ वायुसे होती हैं। आकाशमें कोई क्रिया नहीं होती; क्योंकि उसमें वायु नहीं है।

---

* स्वयंने असत्‌को महत्ता दी है—यदि ऐसा मानें तो यह दोष आयेगा कि आगे पुनः कभी स्वयं असत्‌को महत्ता दे देगा! यह सिद्धान्त है कि बोध एक बार होता है और सदाके लिये होता है। अतः साधकके लिये ‘स्वयंने कभी असत्‌को महत्ता दी ही नहीं’—ऐसा मानना ही उचित है।

वायु आकाशसे उत्पन्न होता है।

मुक्ति स्वत:सिद्ध है। बन्धन तो हमारा किया हुआ है। कर्तृत्व है ही नहीं, तभी वह मिटता है, नहीं तो मिटे कैसे? अगर अपनेमें क्रिया होती तो वह कभी मिटती ही नहीं।

क्रियामात्र स्वत: हो रही है। परन्तु जब **'मैं कर्ता हूँ'** ऐसा मान लेता है, तब उसपर विधि-निषेध लागू हो जाते हैं। पशु-पक्षी प्रकृतिके अनुसार स्वत: क्रिया कर रहे हैं, उनपर विधि-निषेध लागू होते ही नहीं। 'मैं कर्ता हूँ'—यह मान्यता जितनी दृढ़ होगी, उतनी ही अधिक आसुरी-सम्पत्ति आयेगी।

यथार्थ ज्ञान होनेपर साफ दीखता है कि **'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३। २८) 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'। अत: न करनेका आग्रह हो, न नहीं करनेका आग्रह हो, है ज्यों चुप हो जाय। यही 'चुप-साधन' है। जैसा है, वैसा जान लेनेका नाम ही 'ज्ञान' है। क्रिया और पदार्थ अपनेमें नहीं हैं—इतना जान लो तो ज्ञान हो गया!

पहले भोगे हुए विषयको याद करनेसे भी एक सुख मिलता है और उसके संस्कार पड़ते हैं। इसको मिटानेका उपाय है कि 'वह भोग तो अभी नहीं है, पर सत्ता है'। वर्तमानमें भी भोग भोगते हैं तो भोग अभी नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'**, पर सत्ता ('है') है—**'नाभावो विद्यते सतः'**। सत्ता है—इसपर जोर देना चाहिये। गीता कहती है—**'नैव किञ्चित्करोमीति'** (गीता ५। ८) 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ' तो इसका तात्पर्य है कि क्रिया नहीं है, पर सत्ता है।

*** *** ***

अनुभव होता नहीं है, अनुभव तो है। सत्तामें न अनुभव है, न अननुभव है। यह जो कहते हैं कि अब अनुभव हुआ तो यह अनुभव नहीं हुआ है, प्रत्युत उधर दृष्टि गयी है। पहले दृष्टि नहीं थी, अब दृष्टि चली गयी। पहले देश-कालादिकी तरफ दृष्टि थी, सत्ताकी तरफ दृष्टि नहीं थी; परन्तु अब देश-कालादिकी दृष्टि नहीं रही, सत्ताकी तरफ दृष्टि हो गयी—इतनी ही बात है!!

मुक्ति स्वत: है। उसके लिये करना कुछ है ही नहीं।

*साधक—जल्दी प्राप्ति हो जाय तो ठीक है!*

*स्वामीजी*—जल्दी प्राप्ति हो जाय—यह भाव भी न रहे; क्योंकि यह भाव तभी होता है, जब अप्राप्ति मानते हैं। **'स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८। ७३) का तात्पर्य है कि तत्त्व स्वत:सिद्ध है। वह नया नहीं है, प्रत्युत पहलेसे ही है। भूले हुएको याद करनेमें कैसा परिश्रम? कैसा उद्योग? कण्ठी पहले गलेमें थी, फिर खो गयी, फिर पा गयी—ये तीनों अवस्थाएँ आपकी दृष्टिमें हैं, कण्ठी तो पहलेसे ही गलेमें पड़ी हुई थी!

स्वयं असंग है। उपनिषद्‌में आया है—**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदारण्यक० ४। ३। १५)। यह असंगता निरन्तर रहती है, पर अपनी असंगताका अनुभव न करनेके कारण जीव संसारमें फँस गया। ध्यान दो, असंगता निरन्तर है, पर संग होता है। संगके समय भी असंगता ज्यों-की-त्यों है। संग निरन्तर नहीं रहता। संग तात्कालिक होता है। यही मुक्ति है! 'नहीं' को आदर मत दो, 'है' को पकड़ लो।

*** *** ***

संवत् १९८४ में मैंने भागवत और गीताकी कथा की थी। उसमें दो भजन गाये। गाते समय यह बात चमकी कि 'हूँ' में 'है' है! पर उसका खुलासा नहीं हुआ। अब खुलासा हुआ है कि

'है' ही 'हूँ' है!! 'मैं' 'हूँ' नहीं है, प्रत्युत 'हूँ' 'मैं' है! मैं-तू-यह-वह—ये चार हैं और सापेक्ष हैं, पर 'है' एक है और निरपेक्ष है।

*** *** ***

अपरा प्रकृतिके बिना भी हम रह सकते हैं। शरीरके बिना भी हम बड़ी मौजसे रह सकते हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। उसके लिये शरीरकी लेशमात्र भी जरूरत नहीं है। उस सत्तामात्रमें स्थित हो जाओ, फिर संसारका आकर्षण कहाँ? जिसका त्याग करना है, वह छूटा हुआ है और जिसको प्राप्त करना है, वह मिला हुआ है—इसमें 'चुप' हो जाओ।

हमारेमें कमी है ही नहीं, फिर हम चिन्ता क्यों करें? साधन चिन्ता मिटानेके लिये नहीं करना है, प्रत्युत इसलिये करना है कि इससे बढ़िया कोई काम नहीं है।

*** *** ***

'होनापन मेरा स्वरूप है'—इस बातको जोरसे पकड़ लो। इस होनेपनके साथ शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि कुछ भी मिलाओ मत। इस होनेपनमें चुप हो जाओ; केवल है....है....है....। इस 'है' में स्थित हो जाओ। इसको पहले बुद्धिसे समझोगे; क्योंकि समझनेके लिये बुद्धिसे सूक्ष्म यन्त्र कोई है ही नहीं। फिर बुद्धि नहीं रहेगी, केवल होनापन रहेगा। 'होनेपन' का अर्थ है—होनेका भाव। होनेपन ('है')-में स्थिति ही जाग्रत्-सुषुप्ति है।

*** *** ***

'मैं हूँ' अर्थात् सत्ता ही परमात्मतत्त्व है। 'मैं हूँ'—ऐसा जो अपना होनापन है, यही परमात्मा है। परमात्मा 'स्व' भी है और 'स्वकीय' भी। जहाँ आप हैं, वहीं परमात्मा है अर्थात् आप नहीं हैं, परमात्मा है। 'मैं' नहीं है, 'है' है—इतनेसे काम हो जायगा! निरन्तर उस 'है' में रहो। इससे आगे कुछ नहीं है। इससे पूर्णता हो जायगी। इसी बातको पकड़ लो। बाकी सब बातें कोई कामकी नहीं!

*** *** ***

एक बात है, पर कहते संकोच होता है! संकोच क्यों होता है? कि इससे लोग सीख जायँगे! ज्यादा स्पष्ट बात कहनेसे साधक बातें सीख जाता है, अनुभव नहीं करता। अब वह बात बताता हूँ, जिसको मैंने मनमें रखा था!

पहली बात, 'मैं' तो अभावशरीर है और 'हूँ' भावशरीर है! कहीं भी 'अभावशरीर' शब्द लिखा नहीं मिलेगा, प्रत्युत 'प्रतीति' शब्द मिलेगा। 'हूँ' भावशरीर है और 'है' भाव है।

दूसरी बात, अपरा प्रकृति भगवान्‌की होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है। अब भगवान्‌के बिना कौन-सी वस्तु बाकी रही? भूमि, जल, वायु, आकाश आदि सब वासुदेव ही हुए! **'भूमिरापोऽनलो वायुः०'** (गीता ७। ४)—इसमें सब कुछ आ गया! पांचभौतिक सृष्टिमात्र इसमें आ गयी!

इन दोनों बातोंपर खुद विचार करो। मैंने सब-की-सब बात कह दी, कुछ बाकी नहीं रखी! *(दिनांक २२.११.१९९७)*

*** *** ***

अपनेमें कमी नहीं माननी चाहिये। राग दीखता है तो वह पहलेका संस्कार है। राग वास्तवमें है नहीं, केवल जबर्दस्ती अपनेमें मानते हो। रागकी सत्ता नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'**। उसको सत्ता क्यों देते हो? उसकी उपेक्षा करो। उपेक्षा खास चीज है, जो बहुत काम करती है। अपनेमें

राग-द्वेषको मानते हैं—यही कमी है, और कोई कमी नहीं है! काम-क्रोध, राग-द्वेषको कितने ही जोरसे पकड़ लो, वे एक घण्टा भी रह नहीं सकते। उनमें रहनेकी ताकत ही नहीं है! जो किसी भी क्षणमें नहीं है, वह वास्तवमें है ही नहीं! अभी राग-द्वेष हैं क्या? राग-द्वेषको कबतक सत्ता दोगे? उनमें रहनेकी ताकत नहीं है, रहना असम्भव है। अनुभव केवल सत्-तत्त्वका ही हो रहा है!

*** *** ***

न 'यह' में स्थिति करनी है, न 'है' में स्थिति करनी है। कहीं भी अपनी स्थिति करना गलती है। तत्त्व स्थिति और गति—दोनोंसे रहित है।

सब है-ही-है झलक रहा है, उसमें मैं-तू-यह-वह नहीं है। 'है' में अपनी स्थिति माननेसे अहम् (स्थितिवाला) रहता है। अतः स्थिति न करके अपनी सत्ताको 'है' में मिला दे।

*** *** ***

'मैं हूँ' में 'हूँ' ही है। 'यह है' में 'है' ही है। जो क्षणभर भी नहीं टिकता, उस 'यह' की सत्ता कहाँ है! 'हूँ' ही 'मैं'-रूपसे और 'है' ही 'यह'-रूपसे दीखता है। अब बाकी क्या रहा? यह सिवाय अनुभवके और क्या है?

*** *** ***

ये बातें शब्दोंसे समझमें नहीं आतीं, प्रत्युत 'चुप' होनेसे समझमें आती हैं*। जैसे, अनन्त ब्रह्मा उत्पन्न हो-होकर मिट गये—यह स्वाभाविक ज्ञान जिसमें है, उसमें 'चुप' हो जाओ। उसमें 'अनन्त ब्रह्मा उत्पन्न हो-होकर लीन हो गये'—इसका भी अभाव हो जायगा।

जैसे शुकदेवजीको तत्त्वज्ञान था ही, पर 'चुप' होनेसे उनको अनुभूति हो गयी, ऐसे ही 'चुप' हो जाना चाहिये। जैसे पानीमें मिट्टी घुली हुई हो तो पानीके स्थिर होनेपर वह मिट्टी नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही 'चुप' होनेसे विमुखता मिट जाती है और तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

## सावधानी

साधकका उद्देश्य बातें सीखनेका नहीं होना चाहिये, प्रत्युत अनुभव करनेका होना चाहिये। सीखनेसे अपना और दुनियाका नुकसान है! सीखनेसे समयका अपव्यय होता है। न सीखनेका उद्देश्य हो, न सिखानेका उद्देश्य हो। सुनानेके लिये सीखनेवाले तटस्थ रहते हैं अर्थात् विषयका स्पर्श नहीं करते, विषय (तत्त्व)-से निर्लेप रहते हैं, जबकि निर्लेप संसारसे रहना चाहिये।

*** *** ***

हमारी बातें इतनी सरल हैं कि कोई अनुभव करना चाहे तो जल्दी अनुभव कर लेगा, और कोई कोरा सीखना चाहे तो जल्दी सीखकर वाचक ज्ञानी बन जायगा! अनुभव करनेके लिये और पाखण्ड करनेके लिये—दोनोंके लिये ये बातें बढ़िया हैं!

अन्तःकरण शुद्ध हो या अशुद्ध, तत्त्वप्राप्तिमें कोई बाधा नहीं है.....आदि बातोंका कोई दुरुपयोग भी कर सकता है! वास्तवमें ये बातें सीखनेकी नहीं हैं, प्रत्युत तत्त्वको समझनेकी हैं। ऐसी बातें कहनेका तात्पर्य है कि साधकको तत्त्वप्राप्तिमें उत्साह हो। अगर वह इन बातोंको केवल सीख लेगा तो वह ब्रह्मराक्षस हो जायगा, उसका पतन हो जायगा!!

*॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥*

---

* 'चुप-साधन' को विस्तारसे समझनेके लिये '**सहज समाधि भली**' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिये।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

# हम आज ही जीवन्मुक्त हो सकते हैं!

**[ दिनांक २५.४.१९९३, प्रातः ३ बजे, गीताभवन, ऋषिकेश ]**

[ परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके मनमें प्रायः इस बातकी बड़ी छटपटी रहती थी कि कोई सच्चा जिज्ञासु मेरे पास आये और मैं उसे तत्त्वकी बात बताऊँ! वे कई बार कहते भी थे कि कोई तत्त्वप्राप्तिकी लगनवाला साधक हो तो उसे मेरे पास लेकर आओ। जब श्रीस्वामीजी महाराज गीताभवन, ऋषिकेशमें पधार रहे थे, तब एक दिन उन्होंने प्रातः ३ बजे कुछ चुने हुए जिज्ञासु साधकोंको अपने कक्षमें बुलवाया और लगभग एक घण्टेतक कई मार्मिक बातें कहीं। उन बातोंकी रिकार्डिंग कर ली गयी थी। उसीको यहाँ साधकोंके लाभार्थ लिखितरूपमें दिया जा रहा है।]

**नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्त्रमूर्तये सहस्त्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।**
**सहस्त्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्त्रकोटीयुगधारिणे नमः॥**

(गर्गसंहिता, विज्ञान० ९। २२)

'जो अनन्त हैं, जिनके हजारों विग्रह हैं, जिनके हजारों चरण, जंघा, बाहु, ऊरु, मस्तक एवं नेत्र हैं, जो नित्य हैं, जिनके हजारों नाम हैं तथा जो करोड़ों युगोंको धारण करनेवाले हैं, उन परम पुरुष भगवान्‌के लिये मेरा नमस्कार है।'

मेरे मनमें ऐसी बात आयी कि अपने सब-के-सब जीवन्मुक्त हो सकते हैं! इसकी शास्त्रोंमें बड़ी भारी महिमा आती है—

**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**
**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥**

(गीता ४। ३८)

'इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह दूसरा कोई साधन नहीं है। जिसका योग भलीभाँति सिद्ध हो गया है, वह (कर्मयोगी) उस तत्त्वज्ञानको अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें पा लेता है।'

कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग किसी भी साधनके सिद्ध होनेपर तत्त्वज्ञान हो जाता है। उस तत्त्वकी प्राप्ति स्वतः-स्वाभाविक सबको है। यह कोई नया काम नहीं है, नया प्राप्त नहीं करना है। वह स्वतः सबको प्राप्त है। उस स्वतःप्राप्त तत्त्वकी तरफ केवल दृष्टि करना है। जैसे हमारे पास कोई चीज हो, पर हम देखें ही नहीं तो वह छिपी रहती है। दृष्टि डालें तो वह दीख जाती है। ऐसे ही उस तत्त्वकी तरफ दृष्टि होते ही उसकी प्राप्ति हो जाती है। उसमें ऐसा नहीं होता कि इतने दिन प्राप्ति नहीं थी, अब प्राप्ति हुई है, प्रत्युत 'यह तो था ही ऐसे'—ऐसा होता है! उस तत्त्वकी प्राप्ति अपनेको बड़ी सुगमतासे, बहुत सरलतासे हो सकती है।

**मेरे मनमें कई वर्षोंसे यह बात आती है कि जितने सत्संग सुनते हैं, सबको तत्त्वज्ञान हो सकता है, सब-के-सब ज्ञानी, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त हो सकते हैं—इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं।**.........इसमें केवल इच्छा चाहिये, और कुछ जरूरत नहीं है। अन्तःकरणकी शुद्धि बहुत अच्छी है, उसका हम आदर करते हैं; परन्तु उसके बिना तत्त्वज्ञान नहीं होगा—यह बात मेरेको नहीं जँचती। अगर कहनेवाला और सुननेवाला ठीक सहमत हो जायँ तो बोध हो जायगा। हाँ, मनमें जिज्ञासा तो चाहिये ही, जिज्ञासाके बिना कैसे होगा? **मनमें जिज्ञासा हो तो बहुत सुगमतासे तत्त्वकी प्राप्ति हो सकती है।**

हम सुबह (५ बजेके सत्संग)-के समय जितनी बातें कहते हैं, उनकी तरफ लोग विशेष ध्यान नहीं देते हैं!........एक सीधी-सी बात है कि बचपनसे लेकर आजतक शरीर बदला है, परिस्थिति बदली है, भाव बदले हैं, देश बदला है, काल बदला है, वस्तु बदली है, यह जितना प्रकृतिका कार्य है, सब बदला है; परन्तु 'मैं तो वही हूँ, जो बचपनमें था'! बचपन ही नहीं, अनन्त महाप्रलय-महासर्ग हुए, उन सबमें रहनेवाला वही यह स्वयं है—**'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते'** (गीता ८। १९)। स्वयं निरन्तर वही रहा (**भूतग्रामः स एवायम्**) और शरीर सदा उत्पन्न हो-होकर नष्ट होते रहे (**भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**)—ये दो बातें बड़ी प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जो नष्ट होनेवाला है, उसमें यह अपनी स्थिति मानता है, जबकि उसमें स्थिति हो नहीं सकती। इसने नष्ट होनेवालेका तो आदर किया, पर जो स्वत:सिद्ध, निर्विकार, नित्य-निरन्तर रहनेवाला स्वरूप है, उसका निरादर किया—इतनी ही भूल है! अगर हम निरन्तर रहनेवालेका आदर करें तो वह सबको स्वत:प्राप्त है। वह किसी तरहसे अप्राप्त हो सकता ही नहीं। अत: हम सब-के-सब उस तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। प्राप्त कर क्या सकते हैं, वह तो प्राप्त ही है! शरीर-संसारकी निवृत्ति स्वतः होती है। शरीर-संसार निरन्तर बिछुड़ते चले जा रहे हैं, पर उसको जाननेवाले आप वे-के-वे ही हैं। आप यहाँ आकर बैठे, उस समय जितनी उम्र थी, उतनी अब नहीं है, पर आप वे-के-वे ही हो। **उस नाशवान्‌को महत्त्व न देकर, उसकी तरफ दृष्टि न रहकर हरदम रहनेवालेकी तरफ दृष्टि हो जाय तो बोधमें क्या कमी है?** आप बताओ।

**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)—यह आधा श्लोक इतना विलक्षण है कि जिसकी महिमा मैं कह नहीं सकता! बत्तीस अक्षरोंका एक श्लोक होता है, उसमें यह सोलह अक्षरोंका आधा श्लोक है! आप ध्यान दें, **'नासतो विद्यते भावः'** 'असत्‌का भाव विद्यमान नहीं है'। असत् वस्तुका भाव अर्थात् होनापन है ही नहीं। उसका होनापन सिद्ध ही नहीं हो सकता। परन्तु **'नाभावो विद्यते सतः'** 'सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है'। जो सत् वस्तु है, उसका अभाव कभी हो सकता ही नहीं। सत्‌का सदा भाव ही विद्यमान है, और असत्‌का सदा अभाव ही विद्यमान है। गीताने कितनी बड़ी जोरसे मार्मिक बात बतायी! अत: **नाशवान्‌की तरफसे दृष्टि हटाकर अविनाशीकी तरफ दृष्टि करनी है—इतना ही तो काम है!** इन दोनोंका अनुभव अपनेको है। शरीर आदिका नाश होता है—यह भी अपनेको अनुभव है, और मैं वही रहता हूँ—यह भी अपनेको अनुभव है। केवल नित्य स्वरूपपर दृष्टि नहीं डाली, उसको आदर नहीं दिया, और अनित्यपर दृष्टि डाली, उसको आदर दिया, उसको सत्ता दी, महत्ता दी—यही मुख्य भूल है। इस भूलके कारण 'उस तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती'—ऐसा मान लिया! इसमें आपकी कोई शंका हो तो पूछो। सत्‌में अपनी स्थिति स्वत: है और असत्‌की निवृत्ति स्वत: है। जिसकी एक क्षण भी सत्ता विद्यमान नहीं है, जो निरन्तर अभावमें जा रहा है, उसमें हमारी स्थिति कैसे हो सकती है?

*साधक—यह विचार निरन्तर रहता नहीं!*

*स्वामीजी*—यह निरन्तर ही रहता है, इसमें अन्तर कभी पड़ता ही नहीं! आप यह बताओ कि इसमें अन्तर कब पड़ता है? यह बिल्कुल गलतीकी बात है कि यह निरन्तर नहीं रहता। इसमें किसी भी अवस्थामें, कभी भी, किसीके लिये भी अन्तर पड़ता ही नहीं! एक बात बतायें, आप चाहते हैं कि हमारी वैसी-की-वैसी ही अवस्था रहे। परन्तु वैसी-की-वैसी अवस्था ज्ञानी, जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, गुणातीतकी भी नहीं रहती! यह गीतामें आया है!

**प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।**

**न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥**

(गीता १४। २२)

'हे पाण्डव! प्रकाश और प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो भी इनकी इच्छा नहीं करता।'

आप निरन्तर बदलनेवालेमें स्थित होकर कहते हैं कि यह अवस्था निरन्तर नहीं रहती। परन्तु गीता कहती है कि उसका भाव (सत्ता) विद्यमान है ही नहीं! उसको आप नित्य रखना चाहते हो! शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् आदि सब प्रतिक्षण बदलते हैं। उसमें एकरस कैसे रहेगा? जीवन्मुक्तमें भी प्रकाश (सत्त्वगुण), प्रवृत्ति (रजोगुण) और मोह (तमोगुण)—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ आती-जाती रहती हैं। उनके आनेसे वह द्वेष नहीं करता और जानेसे उनकी इच्छा नहीं करता। इतना ही आपको करना है, और आपको कुछ करना है ही नहीं! विचार निरन्तर नहीं रहता—यह सोलह आना गलतीकी बात है! केश-जितनी भी यह बात सच्ची नहीं है! जो असत्का भाव विद्यमान नहीं है, उसको आप विद्यमान रखना चाहते हैं। आप मन-बुद्धिको अपने इच्छानुसार रखना चाहते हैं, पर वे वैसे कैसे रहेंगे? वे रहनेवाले हैं ही नहीं!

मैं आपसे पूछता हूँ कि **आपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिका अभाव तो देखा है, पर अपने-आपका अभाव देखा है किसीने?** बचपनके, जवानीके, घटनाओंके, सबके अभावका अनुभव होता है, पर स्वयंके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है। इसके लिये कोई उद्योग, परिश्रम नहीं करना पड़ता। यह तो स्वतः है। इसमें शंका करो।

*साधक—परन्तु जब हम कसौटी लगाते हैं, तब.........*

*स्वामीजी*—कसौटी मत लगाओ। आप मेरी प्रार्थना सुनो, मेरेपर कृपा करो, आजसे कसौटी मत लगाओ। मैं सदा ही 'है' में स्थित हूँ, 'नहीं' में स्थित रह ही नहीं सकता। असत्का भाव विद्यमान है ही नहीं, और सत्का अभाव विद्यमान है ही नहीं। जितनी भी कसौटी है, सब अनित्य है। कसौटी ही रद्दी है तो फिर उससे सोनेकी परीक्षा कैसे करोगे? आप खूब पूछो! आज ही ज्ञानको प्राप्त करके इस विषयको समाप्त कर ही देना है, तत्त्वको प्राप्त कर ही लेना है; क्योंकि वह प्राप्त है, संसार प्राप्त नहीं है। कोई बाधा हो तो आप पूछो। आपकी क्या कसौटी है, बताओ।

*साधक—जैसे गीताजीको देखते हैं तो **'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य०'** (गीता ५। २०), **'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः०'** (गीता २। ५६), **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां०'** (गीता १२। १३), **'यं लब्ध्वा चापरं लाभं०'** (गीता ६। २२) आदि बातें आती हैं। इनको देखकर निराशा होती है कि ये लक्षण तो हमारेमें आये ही नहीं!*

*स्वामीजी*—परन्तु जिस गीताकी बात आप कहते हो, उसी गीतामें '**प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च०**' (गीता १४। २२)—यह भी गुणातीतके लक्षणोंमें लिखा है! आपको स्वयंके अभावका अनुभव नहीं होता, वह स्वयं दुःखसे कहाँ उद्विग्न हुआ है!

*साधक—परन्तु लगता ऐसा है कि मुझमें ही हो गया है!*

*स्वामीजी*—बिल्कुल गलत बात है! आपमें हुआ ही नहीं! आप तो एकरूप रहनेवाले हो। यह मन-बुद्धिमें हुआ है, और मन-बुद्धि कभी किसीके भी एकरूप नहीं रहते।

*साधक—महाराजजी, इसमें दो अवस्थाएँ होती हैं। जैसे कोई घटना घट गयी, कोई निषिद्ध काम हो गया या मनमें कोई निषिद्ध भाव आ गया तो उस समय हम उसके साथ मिल जाते हैं, लेकिन दो मिनटके बाद वास्तविक बात ध्यानमें आती है!*

*स्वामीजी*—उससे मिलना नहीं है—इतनी ही सावधानी रखनी है, और कुछ सावधानी नहीं रखनी है। आप बदलनेवालेके साथ मिल जाते हैं—यह है असावधानी! यह असावधानी हो जाय तो भी उसको महत्त्व नहीं देना है। सावधानीको महत्त्व दो। जिसका भाव विद्यमान है ही नहीं, उसको सत्ता और महत्ता क्यों देते हो? वास्तवमें उससे आप मिल सकते ही नहीं! केवल मान्यता कर लेते हो।

*साधक—बात तो ऐसी ही है महाराजजी!*

*स्वामीजी*—बात ठीक है तो अभी, इसी क्षण मान लेनी है! जो कसौटी लगाते हो, वह भी खोटी है! उससे मिल जाते हो तो यह असावधानी है। असावधानीको महत्त्व क्यों देते हो? असावधानीको महत्त्व देकर उसको कायम करना चाहते हो। बिल्कुल गलतीकी बात है! आप उससे मिल सकते ही नहीं। क्या पूर्णिमा और अमावस्या एक हो सकती है? सत् और असत् एक कैसे हो सकते हैं? इसको आजसे ही महत्त्व मत दो। अगर निषिद्ध वृत्ति आ जाय, निषिद्ध क्रिया भी हो जाय तो आपमें क्या फर्क पड़ा? गीता कह रही है—

**यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।**
**हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥**

(गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

अहंकार प्रकृतिका कार्य है, आप परमात्माके अंश हैं। अहंकारके साथ हमारा लेन-देन ही नहीं है। उससे हम कैसे मिल सकते हैं? असत्‌की सत्ता है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**'। न अहंकारकी सत्ता है, न ममताकी सत्ता है, न लेपकी सत्ता है, न आसक्तिकी सत्ता है, न कामनाकी सत्ता है, न वासनाकी सत्ता है, न तृष्णाकी सत्ता है, न आशाकी सत्ता है। इनकी सत्ता ही नहीं है! आज इस बातको पक्का कर लो कि असत्‌को महत्त्व नहीं देना है। अचानक महत्त्व दे भी दो तो उसकी परवाह मत करो। दुःख हुआ है तो आपके मन-बुद्धिमें हुआ है, आपमें तो हुआ नहीं। सुख-दुःख दोनों एकमें कैसे हो सकते हैं? जहाँ सुख होता है, वहाँ दुःख नहीं होता और जहाँ दुःख होता है, वहाँ सुख नहीं होता। आप सुख-दुःख दोनोंको जाननेवाले हो। आपमें कहाँ सुख-दुःख होते हैं! मैंने बहुत बार कहा है कि नफा और नुकसान हुआ तो वस्तुओंमें हुआ, आपमें क्या नफा-नुकसान हुआ? आपको एक तरफ नफेका ज्ञान हुआ और दूसरी तरफ नुकसानका ज्ञान हुआ तो ज्ञानमें क्या फर्क पड़ा? ज्ञानके विषयमें फर्क है, ज्ञानमें क्या फर्क है? बेटा मर गया, पोता जन्म गया तो उसके ज्ञानमें क्या फर्क पड़ा? आप उसके साथ मिलो मत, इतनी ही बात है! कभी मिलना हो भी जाय तो उसको महत्त्व मत दो। कृपा करके इतना आज स्वीकार कर लो कि कितना ही मिल जायँ, पर वास्तवमें तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही है। उसमें कभी फर्क पड़ता नहीं, पड़ा नहीं, पड़ेगा नहीं, पड़ सकता ही नहीं! इसमें क्या बाधा लगी? बोलो। कोई बाधा नहीं तो आज, अभी, इसी क्षण स्वीकार कर लो। कोई शंका हो तो अभी पूछो।

*साधक—दैवी सम्पत्तिकी कमी दीखती है!*

*स्वामीजी*—दैवी सम्पत्तिकी कमी हो तो उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति नित्य है कि अनित्य है? बताओ।

*साधक—व्यवहारमें है......*

*स्वामीजी*—अभी हम व्यवहारकी बात करते हैं कि परमार्थकी बात करते हैं? यहाँ तोला जा रहा है सोना, दे रहे हैं ईंट कि हमारी ईंट तोलो!

*साधक—गुणातीतकी पहचान तो व्यवहारसे ही होती है—'**गुणातीतः स उच्यते**' (गीता १४। २५)?*

*स्वामीजी*—कृपा करके अभी आप पहचान मत लगाओ! मेरी बात मान लो। आने-जानेवालीकी कसौटी क्यों लगाते हो आप? मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, लाभ-हानि दोनों ही बदलनेवाले हैं। बदलनेवालेकी कसौटी न बदलनेवालेमें कैसे लगा दी? यहाँ न बदलनेवालेकी बात हो रही है। बिल्कुल गलती है! अभी इस बातको स्थगित कर दो।

कोई भी विद्या सीखो तो पहले मानना ही पड़ेगा, बिना माने कैसे सीखोगे? बिना माने और कोई है उपाय? वास्तविक बात आप मान लो तो सब ठीक हो जायगा, इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं है। मान-अपमान आदि दो हैं, पर उनका ज्ञान एक है। जो दो चीज है, वह सच्ची नहीं है। जो एक चीज है, वह सच्ची है। उनका असर हुआ है तो मन-बुद्धिमें हुआ है, आपपर कहाँ हुआ है? आपको अपने अभावका अनुभव नहीं होता, पर इनके अभावका अनुभव होता है कि नहीं? कसौटी लगाते हैं, भूल जाते हैं, असावधानी हो जाती है—ये सब गलतियाँ हैं, जिनको आज छोड़ना है। इनमें कोई सन्देह हो, अटकाव हो तो पूछो।

*साधक—अटकाव इतना ही है कि जैसा लिखा है, वैसा होता नहीं! हो जाय तो ठीक है!*

*स्वामीजी*—इसको अभी छोड़ दो। मैं दो-तीन वर्ष पढ़कर गया तो हमारी बूढ़ी माँजी बोली कि तू पढ़कर आया है तो कुछ सुना। अब मैं क्या सुनाऊँ? जो पढ़ा है, वह सुनाऊँ तो वे समझेंगी ही नहीं! मैंने यह पढ़ा है—'**टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः**' (लघुसिद्धान्तकौमुदी), समझ गये? यह पढ़ाई की है हमने!

*साधक—इससे सिद्ध होता है कि अभी जीवन्मुक्त हैं ही!*

*स्वामीजी*—बिल्कुल हैं ही! जीवन्मुक्ति कभी मिटती नहीं। अगर जीवन्मुक्ति होनेवाली होगी तो मिट जायगी; क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश होता ही है। जीवन्मुक्ति तो स्वतःसिद्ध है!

प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह आते हैं, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आते हैं, आप आते-जाते हो क्या? आपका निरन्तर रहना और इनका प्रतिक्षण बदलना आपका प्रत्यक्ष अनुभव है। आप बदलनेवालेको पकड़े हुए हो। अगर न बदलनेवालेको पकड़ लो तो काम पूरा हो जाय! *'माँ उधर जाती तो ठेठ गंगाजी पहुँच जाती, इधर क्यों आयी?*'* आप शंका करो, मेरी बातको काटो!

*साधक—एक उद्देश्यकी कमी दीखती है!*

---

* एक ग्रामीण कहानी है। एक माँके तीन लड़के थे। दो लड़के बड़े थे और काम-धंधा करते थे। तीसरा लड़का सीधा-सादा और भोला था। उनकी माँ मर गयी तो दोनों बड़े भाइयोंने छोटे भाईसे कहा कि माँके फूल (हड्डियाँ) गंगाजीमें डाल दे, इतना काम तू कर दे। उससे कहा—बहुत ठीक है। वह माँके फूल लेकर अपने घरसे चला। घरसे गंगाजी ३०० कोस दूर थीं। पैदल रास्ता चलते-चलते वह थक गया तो किसीसे पूछा—भैया, गंगाजी यहाँसे कितनी दूर हैं? वह बोला—तुम तो १५० कोस आये हो, अभी गंगाजी १५० कोस और आगे हैं! उसने सोचा कि गंगाजी कब पहुँचूँगा और फिर लौटकर कब आऊँगा! ऐसे दुःखी होकर उसने वे फूल जंगलमें ही फेंक दिये और गाँवके पाससे वर्षाका मीठा जल बर्तनमें भर लिया; क्योंकि गंगाजी जाते हैं तो लौटते समय गंगाजल लाते हैं। फिर वह वहाँसे पीछे चला आया और अपने गाँव पहुँच गया।

*स्वामीजी*—उद्देश्यमें कमी ही सही, पर बातमें कमी हो तो बताओ! हमें तो बात ही पकड़नी है। उद्देश्य अपने कामका नहीं है। उद्देश्य, अन्त:करणकी शुद्धि आदि सब बात मैं जानता हूँ। ये सब बातें व्याख्यानमें कहनेवाली हैं। ये बहकानेवाली बातें हैं, वास्तवमें इनसे कुछ मतलब नहीं है! आप उलझे रहो, हम मौजसे रोटी खाते रहें! केवल ठगाई है, और कुछ नहीं! अगर उद्देश्य नहीं है तो आप यहाँ क्यों आये हो, बताओ? यहाँ क्या मिलता है? क्या यहाँ बिना उद्देश्यके आये हो? पर मैं तो कहता हूँ कि उद्देश्यकी भी परवाह नहीं है, विकारोंकी भी परवाह नहीं है! किसी बातकी परवाह नहीं है। सच्ची बातकी परवाह करो। सच्ची बातको मान लो, बस, इतनी ही बात है। **मेरी यह बात याद रखो कि आपको सबके परिवर्तनका ज्ञान है, पर अपने परिवर्तनका ज्ञान है क्या आपको? सबके अभावका अनुभव है, पर स्वयंके अभावका क्या किसीको भी अनुभव है?** सीधी-सादी बात है, काटना हो तो काटो! सत्‌का अभाव विद्यमान है ही नहीं! उसका अभाव सम्भव ही नहीं है। अभी-अभी इस बातको मान लो। इतनी कृपा करो कि रहनेवालेको मानो, आने-जानेवालेको मत मानो। आने-जानेवाली कसौटीको रहनेवालेमें मत लगाओ। यह किस देशकी बात, वह किस देशकी बात!

वृत्तियाँ कभी एक-जैसी होंगी नहीं। गुणातीतकी भी नहीं होतीं। हरदम परिवर्तनशील प्रकृति एक कैसे हो जायगी? इसलिये आजसे इस बातपर ही कायम रहो कि हमारेमें कोई विकार है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। मैं कभी इस बातका खण्डन भी कर दूँगा, पर अवसर देखकर कहता हूँ! किसके लिये कहता हूँ और कब कहता हूँ! जो पाखण्ड करता है, अपनेको ज्ञानी मानता है, वह बद्धज्ञानी होता है। उसके लिये मैं विकारोंका खण्डन करता हूँ।

*साधक—अपने वास्तविक स्वरूपका हर समय अनुभव कैसे रहे?*

*स्वामीजी*—उसका हरदम अनुभव ही रहता है! उसमें फर्क ही कब पड़ता है?

*साधक—उसमें फर्क तो नहीं पड़ता है, पर जिसमें फर्क पड़ता है.......*

*स्वामीजी*—उसमें फर्क सदा पड़ेगा, कभी मिटेगा नहीं। जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, गुणातीत हो जाओगे तो भी इसमें तो फर्क पड़ेगा! यह तो फर्क पड़नेवाली चीज है।

*साधक—मिटनेवाला फर्क तो ठीक है। यह तो स्वाभाविक इसका धर्म है। पर......*

*स्वामीजी*—मिटनेवालेमें ही फर्क पड़ता है, नहीं मिटनेवालेमें क्या फर्क पड़े?

*साधक—जैसे सूर्योदय होनेपर तो प्रकाश होगा, अँधेरा थोड़े ही बढ़ेगा?*

---

उसे देखकर बड़े भाई सोचने लगे कि अगर यह गंगाजी जाकर आता तो इतने दिनोंमें नहीं आ सकता था, यह गंगाजी गया ही नहीं! बड़े भाइयोंने उससे पूछा—तू गंगाजी जाकर आया है क्या? उसने कहा—हाँ, गंगाजी जाकर आया हूँ और ब्रह्मकुण्डमें फूल डालकर वहाँसे गंगाजीका यह जल भी लाया हूँ। भाइयोंने समझ लिया कि यह झूठ बोल रहा है, इसलिये वे चुप हो गये।

दूसरे दिन सुबह नींदसे उठकर एक भाई छोटे भाईसे बोला—अरे भाई, तू सच्ची बात बता दे, क्या तू गंगाजी हो आया और फूल गंगाजीमें डाल दिये? उसने कहा—हाँ, बिल्कुल गंगाजी जाकर फूल डालकर आया हूँ। बड़े भाईने कहा—देख, रातको सपनेमें मेरेको माँ मिली थी और उसने मेरेसे कहा कि इसने तो मेरेको गंगाजी पहुँचाया ही नहीं, बीचमें ही डालकर आ गया! अब तू ही बता कि माँकी बात सच्ची या तेरी बात सच्ची? छोटा भाई खीझकर बोला—माँ इधर ही क्यों आयी, उधर क्यों नहीं गयी? मैंने १५० कोसतक तो पहुँचा दिया था, इधर न आकर उधर ही आगे चली जाती तो ठेठ गंगाजी पहुँच जाती!

*स्वामीजी*—आप अँधेरेका आदर करते हो, अँधेरा है कहाँ? अँधेरेको आप पकड़ते हो, नहीं तो अँधेरा आ नहीं सकता। आप असत् मन-बुद्धिको सत् करना चाहते हैं, जो कभी होगा नहीं! असत्का भाव विद्यमान ही नहीं है। कैसे हो जायगा? विकार पैदा होते और मिटते हैं। जिसका अस्तित्व होता है, वह कभी मिटता नहीं। विकार हैं कहाँ?

तत्त्व ज्यों-का-त्यों है! वहम हुआ है कि इसमें देरी लगती है। देरी लगनेकी बात ही नहीं है। यह तो वर्तमानकी बात है। इसमें भविष्य नहीं है। आपके भीतर स्वत: यह बात आनी चाहिये कि अब तो यह बात रहेगी ही, कभी मिट सकती नहीं! **मैं तो यह बात सुनना चाहता हूँ कि यह अब हो गया.....अब कभी नहीं मिट सकता! तभी मेरी बात सुनी है आपने!** स्वयं आपको यह अनुभव होना चाहिये। जो है, वह कैसे मिट जायगा?

ज्ञान सबको हो सकता है। इसमें अनधिकारी कोई है ही नहीं! अयोग्य कोई है ही नहीं! निर्बल कोई है ही नहीं! तत्त्वमें अनधिकारिता, अयोग्यपना, निर्बलता है ही नहीं! शास्त्र लिखते हैं तो शास्त्रोंकी बातें तो बहकानेवाली बातें हैं! सब शास्त्र अज्ञानियोंके लिये, मूर्खोंके लिये हैं! ज्ञानीके लिये कोई शास्त्र नहीं है। मैं शास्त्रका खण्डन नहीं करता हूँ। आप शास्त्रको महत्त्व देकर अपने स्वरूपसे वंचित रहते हैं, उसका खण्डन करता हूँ।

*साधक—महाराजजी, आप जो खोज-खोजकर कमियाँ, बाधाएँ बताते हैं कि यह संसारमें राग है, यह सुखकी आसक्ति है, यह विषमता है, तो वे दिखायी देती हैं!*

*स्वामीजी*—यह भी तो अभी मैं ही बताता हूँ! उसको अभी छोड़ दो, स्थगित कर दो। अभी जो बात कहता हूँ, उसको मानो।

*साधक—महाराजजी, एक और वहम रहता है कि इतनी जल्दी काम कैसे बन सकता है? यह बड़ी भारी बाधा है!*

*स्वामीजी*—ऐसी बात नहीं है। जितनी बढ़िया चीज होती है, उतनी ही वह सस्ती और सुगम होती है। जितनी घटिया चीज होती है, उतनी ही वह कठिन होती है।

*साधक—एक ऐसी धारणा बैठी हुई है महाराजजी, कि यह तो बहुत बड़ा काम है, ऐसे कैसे हो जायगा?*

*स्वामीजी*—यह बात हो सकती है, तभी मैंने बुलाया है न! जो मैं कहता हूँ, उसको आप मानते नहीं! मेरेको सन्देह नहीं है। जिसका कभी अभाव नहीं होता, वही मेरा स्वरूप है। यही **'स्वस्थ'** अर्थात् 'स्व' में स्थित होना है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४)। **'स्व' में स्थित नहीं होंगे तो कहाँ स्थित होंगे आप?** 'स्व' में स्थिति स्वतः है। 'पर' में स्थिति होती नहीं, पर आप मानते हो। 'स्व' ही है—इसका नाम ही स्थिति है।

आप कहते हो कि इतनी जल्दी कैसे होगी, पर यह तो जल्दी ही होनेवानी बात है। इसमें देरी लगनेकी बात है ही नहीं! यह आज, अभी, इसी क्षण हो सकती है! कसाई-से-कसाई, पापी-से-पापी, दुराचारी-से-दुराचारी सब ज्ञानी हो सकते हैं! प्रकृतिमें परिवर्तन निरन्तर होता ही है। प्रकृति कभी एकरूप रहती ही नहीं।

*साधक—बहुत बढ़िया महाराजजी!*

स्वामीजी—हाँ-में-हाँ नहीं मिलानी है, अनुभव करना है! तत्त्वज्ञानमें भविष्य नहीं होता। यह तो

एक साथ ही होता है.....पट!! यह तत्काल सिद्ध होनेवाली बात है! **केवल जीवन्मुक्ति न होनेका वहम मिटता है, जीवन्मुक्ति होती नहीं! वह तो ज्यों-की-त्यों ही है।** मैं तो बहुत बार कहता हूँ कि तत्त्वज्ञानमें देरी नहीं लगती। देरी निर्माणमें लगती है। जो वस्तु विद्यमान है, उसमें देरी कैसी? वस्तु बनायी जाय तो देरी लगती है। रोटी बनानेमें देरी लगती है। 'यह गंगाजी है'—यह जाननेमें क्या देरी लगेगी? गंगाजीपर पुल बाँधना हो, नहर निकालनी हो तो देरी लगेगी।

कसौटी खोटी है, इसलिये सोनेको खोटा कर देती है! सोना खोटा कैसे होगा? इसलिये कसौटी मत लगाओ। अब बाकी क्या रहा? बाकी कुछ था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, और बाकी रह सकता नहीं! है ज्यों-का-त्यों है। तत्त्वज्ञान हो क्या गया, केवल वहम मिट गया! मिटनेवाली चीज मिट गयी, रहनेवाली चीज रह गयी!

**मेरेको तो उत्साह आता है कि जितने सुननेवाले हैं, सब जीवन्मुक्त हो सकते हैं!!** जो चीज विद्यमान होती है, उसीकी इच्छा होती है। भूख लगती है तो अन्न है। प्यास लगे तो जल है। जिज्ञासा होती है तो तत्त्वज्ञान है। आप कहते हैं कि उद्देश्य नहीं है, पर बिना उद्देश्य कौन पैसा खर्च करके यहाँ आये? कौन सुबह जल्दी उठकर आये?

गुणोंके संगसे जन्म-मरण होता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। आपकी गुणोंसे असंगता है। गुण आने-जानेवाले हैं, आप रहनेवाले हो, फिर गुणोंसे संग कैसे होगा? यह विभाग ही अलग है। कोई आदमी हो, शुद्ध हो या अशुद्ध हो, ठीक हो या बेठीक हो, गृहस्थ हो या साधु हो, थोड़ी-सी जिज्ञासा (भूख) चाहिये। इसके सिवाय और कोई सामग्री मैं नहीं चाहता। **थोड़ी भूख चाहिये, पर वह भी मैं ज्यादा नहीं चाहता। ज्यादा हो तो तत्काल प्राप्ति हो जाय!**

तत्त्वज्ञान कैसे हो? हो क्या, वह तो है! तत्त्वज्ञान पैदा नहीं होता। तत्त्व भी है, तत्त्वज्ञान भी है। उसका अभाव कभी हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं! लोग कहते हैं कि बादलोंसे सूर्य ढक गया, पर वास्तवमें बादलोंमें सूर्यको ढकनेकी ताकत नहीं है। अगर बादलोंसे सूर्य ढक जाय तो सूर्य कहीं नहीं दीखना चाहिये। बादलोंसे केवल आपकी आँख ढकती है। आँखकी क्या इज्जत है? ऐसे ही स्वयंका अभाव कभी होता ही नहीं। यह विषय आज ही स्पष्ट हो जाना चाहिये!

## ( २ )

**[ दिनांक २४.५.१९९९ को सायं ४ बजे गीताभवन, ऋषिकेशमें दिये प्रवचनका अंश ]**

आप संसारके असरका जितना आदर करते हो, उतना सच्चाईका आदर नहीं करते। अगर आप सांसारिक असरको मिटाना चाहते हो तो कृपा करके मेरी बात मान लो कि उस असरको महत्त्व मत दो। दूसरेकी चीज भी अच्छी दीखती है, उसका असर पड़ता है, पर क्या आप उसको अपनी मानोगे? आप उस असरको महत्त्व देकर असली चीज खो रहे हो! असर भले ही पड़ जाय, पर हम सच्ची बातको मानेंगे, असरको नहीं मानेंगे—यह पक्का विचार कर लो। असर सच्ची बातका पड़ना चाहिये। झूठे संसारका असर भी झूठा ही होगा, सच्चा कैसे होगा?........

संसारका असर पड़ता है—इस बातको मानकर आप बड़े भारी लाभसे वंचित हो रहे हो! असर पड़ता है तो पड़ने दो, पर मनमें समझो कि बात सच्ची नहीं है, ठगाई है। आप ठगाईमें तभी आते हो, जब उसे सच्चा मानते हो।........

आप विचार करें कि असर किसपर पड़ता है? जिस जातिकी चीज है, उसी जातिका उसपर असर पड़ता है। **शरीर संसारकी जातिका है; अतः संसारका असर शरीरपर, मन-बुद्धिपर ही पड़ता है, आपपर नहीं।** उन मन-बुद्धिको अपना माननेके कारण ही आपपर असर पड़ता है, आप सुखी-दुःखी होते हो। एक कुत्तेके मन-बुद्धिका आपपर असर पड़ता है क्या? आप अभी-अभी इस बातको स्वीकार कर लो कि हमारे स्वरूपपर असर नहीं पड़ता, मन-बुद्धि-इन्द्रियोंपर असर पड़ता है। आप स्वयं बिल्कुल निर्लेप रहते हैं। यह मामूली बात नहीं है!

## ( ३ )

### [ दिनांक ६.७.१९९९ को सायं ४ बजे गीताभवन, ऋषिकेशमें दिये प्रवचनका अंश ]

*साधक—आपने लिखा है कि कभी अनुचित कर्म भी हो जाय तो आपमें क्या फर्क पड़ा? यदि अनुचित कर्म होता है तो वह साधक क्या हुआ?*

*स्वामीजी*—समय-समयपर जो बात कही जाती है, वह किस दृष्टिसे कही जाती है और किस अवस्थामें कही जाती है—इसको देखना चाहिये। **साधकके लिये कसौटी न लगानेकी बात तब कही जाती है, जब कसौटी आगे बढ़नेमें बाधक हो रही हो।** आप दुर्गुण-दुराचारको आदर दे रहे हो, भगवत्सम्बन्धी बातको आदर ही नहीं देते। इसीलिये कसौटी न लगानेकी बात कही जाती है, जिससे आपकी जल्दी उन्नति हो। इससे साधकोंको लाभ भी हुआ है। नहीं तो दोषोंसे डरते-डरते उम्र निकल जायगी। दोष आगन्तुक हैं, उनकी उपेक्षा करके भगवत्सम्बन्धी बातोंको आदर दो।........

आपको कसौटी लगानी हो तो उल्टी मत लगाओ, सुल्टी लगाओ कि हम भजन-स्मरण करनेवाले हैं, हमारेमें काम-क्रोध कैसे आ गये? **आपको काम-क्रोधादि दोषोंको हटाना है या भजनको हटाना है? यदि दोषोंको हटाना है तो फिर दोषोंको क्यों आदर देते हो? भगवान्‌के भजनको आदर दो। भजनको आदर दो तो दोष टिकेंगे नहीं, टिक सकते नहीं।** लोग बुरा कहते हैं तो वे समझते नहीं। उनकी बातपर विचार मत करो। आप अपनेको देखो कि हमारी नीयत खराब है क्या? हम खराब काम करना चाहते हैं क्या? लोग तो कुछ-न-कुछ कहेंगे ही।.........

राग-द्वेष, काम-क्रोध अन्तःकरणके आगन्तुक विकार हैं, धर्म नहीं। वास्तवमें दोषोंकी सत्ता है ही नहीं। परमात्माका अंश नित्य है, इसलिये वह किसी दोषको नित्य मान लेगा तो वह दोष दूर नहीं होगा।

## ( ४ )

### [ दिनांक १६.६.२००० को प्रातः ८.३० बजे गीताभवन, ऋषिकेशमें दिये प्रवचनका अंश ]

*साधक—विचारसे यह बात समझमें आती है कि भगवान्‌का भजन करना चाहिये, उनकी प्राप्ति करनी चाहिये, फिर भी कुछ ऐसे संस्कार मालूम देते हैं, जो मनुष्यको भोगोंकी तरफ खींचते हैं! उनको कैसे मिटायें?*

*स्वामीजी*—संसारके जो भोग मन लगाकर, तल्लीन होकर भोगे हैं, उनके संस्कार भीतर पड़े हुए हैं। विरोध करनेसे वे नहीं मिटेंगे। उनकी उपेक्षा करो। उनसे उदासीन, तटस्थ रहो। वास्तवमें असत्‌के संस्कार भी असत् होते हैं। उनको विशेष आदर मत दो। उनकी परवाह मत करो। विरोध करनेसे

वे अधिक दृढ़ होते हैं। कारण कि आपने पहले उनको दृढ़ माना, तब उनका विरोध किया। इसलिये आप करते तो हो विरोध, पर होती है उसकी मजबूती! **उनको मिटानेका उपाय विरोध नहीं, उपेक्षा है।**

अगर आप समझो तो एक मार्मिक बात है! गीतामें 'सत्' का विवेचन करते हुए भगवान्ने कहा—'**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता २। १७) 'अविनाशी तो उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है' और '**नित्यः सर्वगतः**' (गीता २। २४) 'यह शरीरी नित्य रहनेवाला तथा सबमें परिपूर्ण है'। अतः आपका स्वरूप शरीरमें नहीं है। स्वरूप सर्वव्यापक है। यह बात बहुत दामी है! जो सर्वव्यापक है, वह एक शरीरमें नहीं है। अतः मैं एक शरीरमें नहीं हूँ, प्रत्युत सब जगह हूँ—ऐसा दृढ़तासे मान लो। विशेष लाभ होगा!

*साधक—यह बात सबके समझमें नहीं आयी, खुलासा करें।*

स्वामीजी—हम अपने अन्तःकरणको शुद्ध, निर्मल करना चाहते हैं, पर वह शुद्ध होता नहीं! हमारे भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिके जो संस्कार पड़े हुए हैं, उनको हम मिटाना चाहते हैं, पर वे मिटते नहीं! यह प्रश्न है। इसके उत्तरमें मैंने कहा कि हम उन संस्कारोंको ज्यों मिटाना चाहते हैं, त्यों वे दृढ़ होते हैं। इसलिये उनकी उपेक्षा करें, विरोध न करें। विरोध करेंगे तो वर्ष लग जायँगे, पर वे मिटेंगे नहीं। उनको फालतू समझकर उनकी बेपरवाह करें कि संस्कार दीखते तो हैं, पर हैं नहीं।

**आपका स्वरूप सब जगह व्याप्त है, केवल एक शरीरमें (एकदेशीय) नहीं है।** संस्कार तो शरीरमें हैं, पर आपका स्वरूप शरीरमें नहीं है। आप शरीरसे अलग होकर देखो तो आपमें संस्कार हैं ही नहीं। संस्कार अपनेमें हैं ही नहीं तो फिर क्यों घबरायें! असत्का संस्कार भी असत् है। अतः मनमें कोई बात आये तो अपने-आपको सब जगह अनुभव करें। इससे वह संस्कार बहुत सरलतासे दूर हो जायगा।

शरीरकी संसारके साथ एकता है और हमारी परमात्माके साथ एकता है। जो संसारसे सुख लेना चाहता है, वह अपनी स्थिति एक शरीरमें दृढ़ करता है; क्योंकि सुखका भोग एक शरीरमें होता है। एक शरीरमें ही स्वरूप कर्ता-भोक्ता बनता है। आपका मूल्य संसारसे अधिक है। संसार छोटा है, आप बड़े हैं! आपका स्वरूप अनन्त ब्रह्माण्डोंसे बड़ा है! अनन्त ब्रह्माण्ड आपके एक देशमें हैं! जैसे, हमारी आँख छोटी-सी दीखती है, पर हमें जो कुछ दीखता है, वह सब हमारी आँखके अन्तर्गत आ जाता है। फिर भी आँख भरती नहीं, उसमें जगह खाली रहती है! ऐसा नहीं होता कि आँख तो भर गयी, अब और क्या देखें? आप कितनी विद्याएँ सीखते हो, फिर भी बुद्धि भरती नहीं। चारों युगोंकी सब-की-सब सृष्टि आपकी समझमें (बुद्धिके अन्तर्गत) आती है। एक हजार चतुर्युगीका ब्रह्माका दिन और उतनी ही बड़ी ब्रह्माकी रात होती है। इस हिसाबसे ब्रह्माकी सौ वर्षकी आयु होती है। ऐसे सैकड़ों-हजारों ब्रह्मा उत्पन्न होकर चले गये, यह भी आपकी समझमें आता है। भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों काल भी आपकी समझमें आते हैं। फिर भी बुद्धि ज्यों-की-त्यों खाली रहती है! पृथ्वीपर दो सौ देश हैं। वे देश भी आपकी समझमें आते हैं। ऐसी पृथ्वी भी अनन्त है, ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं। वे सब-के-सब बुद्धिके अन्तर्गत आते हैं। फिर भी बुद्धि खाली रहती है। अतः आपकी बुद्धि कितनी बड़ी हुई! वह बुद्धि आपकी है या आप बुद्धिके हो? बुद्धि आपकी है तो आप बुद्धिसे भी बड़े हुए! विचार करें, आपका स्वरूप कितना बड़ा हुआ! उस स्वरूपमें संस्कार कहाँ है? है ही नहीं। सम्पूर्ण संसार एक देशमें हैं, पर आप देश और कालसे अतीत हो।

आपकी मुक्ति होती नहीं है, प्रत्युत मुक्ति है। उस मुक्तिको पहचानना है। जैसे, हमने स्वप्नमें देखा कि एक बूढ़ा आदमी गायको लेकर लाया। गायने एक बछड़ेको जन्म दिया। तो साठ वर्षका आदमी, आठ वर्षकी गाय और दो दिनका बछड़ा—तीनों एक साथ पैदा हुए! ऐसे ही यह सब संसार है! जैसे स्वप्न हमारे अन्तर्गत था, ऐसे ही संसार हमारे अन्तर्गत है। आँख खुलते ही सब स्वप्न गायब! अतः आप सब मुक्त हैं, कोई बन्धनमें नहीं है। केवल इस बातकी तरफ ख्याल करना है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

# जीवन्मुक्तिके सूत्र

**[ परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके मार्मिक वचन ]**

***'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'*** (गीता २। १६) **'असत्‌का तो भाव ( सत्ता ) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है'—यही वास्तवमें गीता है, यही भागवत है, यही सब शास्त्र है!**

× × ×

**एक सत्तामात्रके सिवाय कुछ नहीं है—इधर दृष्टि रहनेसे सम्पूर्ण विकारोंका नाश हो जाता है।**

× × ×

**'है'—यह सत्संग है। इस सत्संगमें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी जरूरत नहीं है।**

× × ×

**शरीर छूटनेपर जो अवस्था होती है, वही अवस्था शरीरके रहते भी होनी चाहिये।**

× × ×

**तत्त्वकी अप्राप्तिमें भी उसकी नित्यप्राप्ति है!**

× × ×

**जिस सत्ताके अन्तर्गत अनेक ब्रह्माण्ड हैं, वही अनन्त सत्ता 'मैं हूँ' में है—*'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'*** (गीता १३। २)।

× × ×

**'मैं हूँ' में ही पूरा तत्त्वज्ञान भरा हुआ है—'मैं' नहीं है, 'हूँ' है!**

× × ×

**'हूँ' 'है' के अर्पित हो जाय। तात्पर्य है कि जो 'हूँ' है, वह वास्तवमें 'है' ही है—ऐसा मान ले। फिर मैं-पन नहीं रहेगा।**

× × ×

***परम प्रभु अपने ही महुँ पायो। जुग जुग केरी मेटी कलपना, सतगुरु भेद बतायो॥*** **—परमप्रभु, परमपद आदि सब कुछ 'हूँ' में ही है! 'हूँ' में ही 'है' है—यही सद्‌गुरुका बताया भेद है!**

× × ×

**हम क्या हैं? हम चिन्मय सत्तामात्र हैं। अगर 'मैं साधक हूँ'—ऐसा मानेंगे तो असाधन सिद्ध**

होगा!* अपनेमें विशेषता दीखती है—यह बाधा है।

× × ×

सत्तामात्रका ज्ञान होना 'ज्ञान' है और सत्तामें कुछ भी मिलाना 'अज्ञान' है।

× × ×

'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' में काम-क्रोधादि हैं, पर उनको हमने 'हूँ' में मान लिया और सत्ता 'हूँ' में है, पर उसको हमने 'मैं' में मान लिया!

× × ×

'हूँ' में 'है' का अनुभव करें तो भोग नहीं होगा।

× × ×

आप खुद भगवान्‌के अंश हैं। आपके और भगवान्‌के बीचमें मन नहीं है।

× × ×

साधनकी सिद्धि रागके त्यागसे होती है, मनकी एकाग्रतासे नहीं।

× × ×

स्वाभाविक स्थिति ही जीवन्मुक्त अवस्था है। यह स्वाभाविकता करने-न करनेसे रहित होनेमें ही है।

× × ×

गलती यह होती है कि हम बोधको अन्तःकरणमें, मन-बुद्धिमें देखना चाहते हैं—मन-बुद्धिमें स्थिरता देखना चाहते हैं।

× × ×

'है' के बिना 'नहीं' को देख नहीं सकते। 'नहीं' के बिना 'है' का वर्णन नहीं कर सकते।

× × ×

मुक्ति होती नहीं, है ज्यों हो जाता है!

× × ×

साधक माना हुआ है, सिद्ध स्वतःसिद्ध है!

× × ×

तत्काल अनुभव कैसे हो? अभी-अभी यह अनुभव करो कि अपना जो होनापन है, उसमें 'मैं' नहीं है। 'मैं' में होनापन नहीं है। जैसे, सुषुप्तिमें 'मैं' नहीं रहता, पर अपना होनापन रहता है।

× × ×

परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्यकी जितनी भी स्वीकृति है, उतना ही अँधेरा है!

× × ×

एक बड़ी मार्मिक बात है कि सांसारिक विद्या तो सीखते हैं, पर पारमार्थिक विद्या प्रकट होती है।

× × ×

असत्‌को क्षणभंगुर, नाशवान्, परिवर्तनशील आदि क्या कहें, कहनेसे कुछ-न-कुछ सत्ता

---

* स्वयंमें असाधनको स्वीकार करनेपर ही 'मैं साधक हूँ'—ऐसा कहना बनता है। परन्तु स्वयंमें असाधन है ही नहीं। अतः मैं न तो साधक हूँ और न असाधक ही हूँ, अपितु चिन्मय सत्तामात्र हूँ।

आयेगी, वह तो विद्यमान ही नहीं है!!

× × ×

वैराग्यके बिना मनुष्य ज्ञानकी बातें तो सीख सकता है, पर अनुभव नहीं कर सकता।

× × ×

विवेक तेज होगा तो वैराग्य होगा ही। वैराग्य न हो तो यह विवेककी कमजोरी है।

× × ×

हमारा स्वरूप है—होनापन। इस होनेपनमें 'मैं' न मिलाये। होनेपनका ज्ञान मेरेको नहीं होना चाहिये। होनेपनका ज्ञान होनेपनको ही हो!*

× × ×

एक ज्ञानमात्र है और उसीमें अनन्त ब्रह्माण्डोंकी कल्पना है।

× × ×

जैसे बन्द कमरेमें एक छिद्रसे प्रकाश आता है, पर बाहर जाओ तो चारों तरफ प्रकाश-ही-प्रकाश है, ऐसे ही हमारा जो ज्ञान है, वह छिद्रसे आये प्रकाशकी तरह है। ज्ञान तो अनन्त है!

× × ×

मैंने न कुछ किया है, न कर रहा हूँ, न करना है, न करूँगा—ऐसा विचार होते ही सहजावस्था स्वतःसिद्ध है!

× × ×

शक्तिपात गुरु, शास्त्र और देवता—तीनोंसे हो सकता है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते अचानक ऐसी बात मिल जाती है कि तत्काल प्रकाश हो जाता है—यह शास्त्र द्वारा शक्तिपात है।

× × ×

कुछ करना नहीं और कुछ चाहना नहीं—ऐसा करके 'है' में चुप हो जाय। फिर तत्त्वज्ञान हो जायगा!

× × ×

आश्चर्यकी बात है कि नाश होता है असत्‌का, पर भय करता है सत्!

× × ×

'मैं बन्धनमें हूँ'—यहाँसे लेकर 'मैं मुक्त हूँ'—यहाँतक 'मैं' है!

× × ×

हम कुछ करेंगे, तब तत्त्व मिलेगा—इससे देहाभिमान हो जायगा। 'करने' से जो मिलेगा, वह रहेगा नहीं। अतः अपने लिये कुछ नहीं करना है—यह खास बात है।

× × ×

मुक्तिकी इच्छा करना बन्धनको दृढ़ करना है। हमें न बन्धनसे मतलब है, न मुक्तिसे। मुक्ति, कल्याण चाहना भी जड़ता है। कुछ नहीं चाहना चिन्मयता है, जीवन्मुक्ति है।

× × ×

शास्त्रोंमें आत्मज्ञान नहीं, अनात्मज्ञान है।

× × ×

शास्त्रोंके द्वारा ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत मान्यता अथवा आस्था होती है। ज्ञान आत्मा-अनात्माका

---

* तात्पर्य है कि ज्ञानमात्र रहे, ज्ञानी (जाननेवाला) न रहे। कारण कि ज्ञानी रहेगा तो अहम् भी रहेगा।

होता है।

× × ×

शास्त्रका आदर तो होना चाहिये, पर 'यही ठीक है'—ऐसा आग्रह नहीं होना चाहिये। अगर आग्रह रखेंगे तो नयी बात कौन मानेगा?

× × ×

जैसे काव्यरससे प्यास नहीं बुझ सकती, ऐसे ही शास्त्र पढ़नेसे ज्ञान नहीं हो सकता।

× × ×

अभी तो पुस्तकोंमें पढ़ते हैं, पर जो अनुभव होगा, वह पुस्तकोंमें नहीं आता!

× × ×

असत्‌की सत्ताके बिना कोई बात, उपदेश, विवेचन, वर्णन होता ही नहीं!

× × ×

असत्‌को सत्ता न दे तो न कर्तव्य है, न अकर्तव्य। असत्‌को सत्ता और महत्ता देनेसे ही सब साधन हैं, सब शास्त्र हैं। अतः सभी शास्त्र शुद्ध मूर्खोंके लिये ही हैं, जिन्होंने असत्‌को सत्ता दी है। असत्‌को सत्ता दिये बिना वर्णन हो ही नहीं सकता। अनन्त विद्याएँ असत्‌को सत्ता देनेसे ही हैं। सत्ता देनेसे ही अभ्यास है। वर्णन चेतनका नहीं होता, प्रत्युत विभागका होता है।

× × ×

पढ़ाई करनेसे अनुभव नहीं होता, उल्टे अँधेरा बढ़ा है कि मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते!

× × ×

चीज बनी-बनायी है, केवल स्वीकार कर लेना है! मुक्ति, परमात्मतत्त्व स्वतः-स्वाभाविक है।

× × ×

जैसे अभी बालकपनके बिना भी हम हैं, ऐसे ही जवानीके बिना भी हम हैं, वृद्धावस्थाके बिना भी हम हैं!

× × ×

परमात्माके सिवाय और किसीमें प्रत्यक्ष होनेकी ताकत ही नहीं है!

× × ×

एक ही सत्ता है—इससे ऊँचा दार्शनिक तत्त्व कोई है ही नहीं!

× × ×

वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना रहनेका स्वभाव बनाओ। यही जीवन्मुक्ति है*!

× × ×

सत्ता अकेली है। उसके साथ कुछ नहीं है, न क्रिया है, न वस्तु है, न देश है, न काल

---

* हम भूलसे अपने जीवनको वस्तु और क्रियाके अधीन मान लेते हैं कि वस्तु (रोटी-कपड़ा-मकान)-के बिना हम जी नहीं सकेंगे, कुछ भी क्रिया किये बिना हम पत्थरकी तरह जड़ हो जायँगे, आदि-आदि। परन्तु वास्तवमें हमारा जीवन वस्तु और क्रियाके अधीन नहीं है। शरीरके रहनेसे हमारा रहना सिद्ध नहीं होता। उदाहरणके लिये, सुषुप्तिमें वस्तु और क्रिया नहीं रहती, पर हम रहते हैं। जहाँ शरीर है, वहीं मृत्यु है। शरीरके बिना, वस्तु और क्रियाके बिना ही हमारा वास्तविक तथा स्वाधीन जीवन है। मनुष्य तभी स्वाधीन होता है, जब उसे शरीरकी भी आवश्यकता नहीं रहती!

है, न परिस्थिति है, न अवस्था है। यही ज्ञान है, जीवन्मुक्ति है!

× × ×

हम अकेले ही आये हैं, अकेले ही जायँगे; अतः हमें अकेले ही रहना है।

× × ×

अकेले रहनेका स्वभाव बना लें अर्थात् साथमें कोई न रहे, न मन रहे, न बुद्धि रहे, न अहम् रहे। अकेले होनेसे हम परमात्माके साथ हो जायँगे। पाँच-दस मिनटके लिये भी अकेले हो जाओ तो मौज हो जायगी!

× × ×

जबतक एकदेशीयता दीखती है, तबतक वास्तविक बोध नहीं है।

× × ×

अपने-आपमें स्थिति स्वाभाविक है, फिर मन लगाने आदि आफत करनेकी क्या जरूरत? केवल उधर दृष्टि करनी है।

× × ×

मन अपना है ही नहीं, एकाग्र करके क्या करोगे?

× × ×

तत्त्वज्ञान होते ही मनुष्य तत्काल विदेह हो जाता है! केवल दूसरोंको शरीर दीखता है।

× × ×

जल्दी-से-जल्दी और सुगम-से-सुगम कल्याण 'है' से होगा।

× × ×

'एक सत्ताके सिवाय और कुछ है ही नहीं'—यह समझना ही पूरा समझना है, अन्यथा समझ बाकी है।

× × ×

'मेरा जीवन निर्दोष नहीं है'—यह जिस ज्ञानमें दीखता है, उसमें दोष नहीं है और वही आपका स्वरूप है।

× × ×

'अपने लिये कुछ करना है ही नहीं'—यह स्वीकार कर लो तो पूरा काम हो गया! कुछ बाकी नहीं रहा!

× × ×

जब हम कुछ भी करना नहीं चाहते, तब शरीरकी क्या जरूरत है? यह बड़ी मार्मिक बात है!

× × ×

'हमें कुछ नहीं चाहिये'— यह हो जाय तो फिर सब ठीक हो जायगा।

× × ×

अपने लिये कुछ भी करते हैं, वह बन्धन है!

× × ×

जो पहले था, वह आज नहीं है और जो आज है, वह कल नहीं रहेगा—इससे सिद्ध होता है कि कुछ नहीं है अर्थात् एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है।

× × ×

सत्तामात्र स्वरूपके लिये शरीरकी लेशमात्र भी जरूरत नहीं है।

× × ×

शरीरकी जरूरत तो श्रममें ही है। विश्राममें शरीरकी जरूरत है ही नहीं।

× × ×

भगवान् मिलेंगे—यह कमी है!

× × ×

एक सत्ताके सिवाय कुछ है ही नहीं, फिर 'मेरा कुछ नहीं' कैसे कहें?

× × ×

एक चंचलता है, एक स्थिरता है। 'चंचलता' संसार है और 'स्थिरता' परमात्मा है—यह याद रखो।

× × ×

एकमात्र 'है'....'है'....'है'—इसके सिवाय कोई क्रिया नहीं, कोई चिन्तन नहीं!

× × ×

साधन क्या करे, है ही वही! जिसको प्राप्त करना है, वह स्वतः प्राप्त है। जिसको निवृत्त करना है, वह स्वतः निवृत्त है। अब साधन क्या करना!

× × ×

मनुष्य 'करने' और 'पाने' में ही उलझा हुआ है! वास्तवमें 'करना' और 'पाना' कुछ है ही नहीं। संसार हमें कुछ दे सकता ही नहीं। मिलनेयोग्य वस्तु (परमात्मतत्त्व) मिली हुई ही है, फिर क्या करना और क्या पाना!

× × ×

परमात्मतत्त्व अक्रिय है। अतः कुछ न करनेसे परमात्माकी प्राप्ति स्वतः होती है। कुछ करें तो प्रकृति आ गयी! आलस्य किया तो प्रकृति आ गयी! निद्रा हुई तो प्रकृति आ गयी!

× × ×

जबतक मनुष्य 'अपने लिये' कुछ भी करता है, तबतक वह अज्ञानी है।

× × ×

संसारका काम 'करना' है और परमात्माका काम 'न करना' है। 'न करना' तत्त्वज्ञान है और 'करना' अज्ञान है। इसलिये मन-वाणीसे 'चुप' हो जाओ, फिर सब ठीक हो जायगा।

× × ×

परमात्माकी अप्राप्तिका वहम मिटता है, प्राप्ति नहीं होती*!

× × ×

जो तत्त्वज्ञान 'हो गया' कहोगे, वह अभी है।

× × ×

परमात्माका अंश होनेसे सब उत्तम अधिकारी हैं!

× × ×

---

* भविष्यमें वह वस्तु प्राप्त होती है, जो वर्तमानमें नहीं है। जो वस्तु वर्तमानमें होती है, उसकी अप्राप्तिका वहम ही मिटता है।

जबतक यह होश रहे कि 'मैं हूँ', तबतक तत्त्वज्ञानमें सन्तोष मत करो। सन्तोष करनेसे धोखा बहुत होता है।

× × ×

अपनेको सिद्ध मानना बड़े ही खतरेकी बात है! सिद्ध कभी माने ही नहीं। जैसे, मैं गंगाजी पहुँच गया—यह माने ही नहीं, प्रत्युत चलता ही चला जाय और चलते-चलते गंगाजीमें डूब जाय, अपना अहम् ही न रहे।

× × ×

साधक अपना उद्देश्य अनुभवका रखे और अपनी समझको बढ़ाता जाय, उसमें गहरा उतरता जाय तो अनुभव अपने-आप हो जायगा।

× × ×

असली बोध नींदसे आँख खुलनेकी तरह अचानक होता है। यह कृपासे होता है। कृपा कैसे होती है—इसे भगवान् ही जानें!

× × ×

व्यर्थ चिन्तनसे बचनेकी बात आती है, पर मेरे मनमें यह बात आयी कि व्यर्थ चिन्तन कोई है ही नहीं! जो भी चिन्तन होता है, वह भगवान् ही हैं! भगवान्के सिवाय कुछ है ही नहीं, फिर व्यर्थ चिन्तन कैसे!

× × ×

जो स्वतःसिद्ध स्वाभाविक स्थिति है, उसीका अनुभव करना है, और कुछ करना है ही नहीं!

× × ×

एकपर दृष्टि रहे तो पूर्णता है और अनेकपर दृष्टि रहे तो जन्म-मरण है—यह पूरी बात कह दी!

× × ×

सबसे बढ़िया बात है—वही है, और कुछ है नहीं! इतनेसे काम हो जायगा!

× × ×

'है'-रूपसे एक सत्ता विद्यमान है। उसमें स्थित हो जाय तो बस, पूर्णता हो गयी!

× × ×

'मैं हूँ'—इस प्रकार अपने होनेपनका हम निरन्तर अनुभव करते हैं, यही 'अखण्ड स्मृति' है। जीवन्मुक्ति हो गयी!!

× × ×

जहाँ आप हैं, वहीं परमात्मा हैं। आप नहीं हैं, परमात्मा हैं!

× × ×

अपनेको ही खो दे कि मैं हूँ ही नहीं, केवल भगवान् ही हैं! यही असली शरणागति है*। यही खास अद्वैत है।

× × ×

* जो अपार-अनन्त सर्वदेशीय परमात्मसत्ता है, उसके शरण हो जायँ अर्थात् अपनी सत्ताको उस सत्ताके समर्पित कर दें। जैसे लोटेके जलको समुद्रमें मिला देते हैं, ऐसे 'हूँ' को 'है' में मिला दें। इस शरणागतिसे अहम्का नाश हो जाता है। अहम्का सर्वथा नाश होनेपर ही वास्तविक, पूर्ण शरणागति सिद्ध होती है।

**'एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है'—यह जान लो अथवा 'भगवान् मेरे हैं'—यह मान लो। काम पूरा हो गया! कुछ बाकी नहीं रहा!**

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

# हृदयोद्गार

**मनुष्यका जल्दी-से-जल्दी और सुगमतापूर्वक कल्याण हो जाय—ऐसे उपायोंकी खोजमें मैं बालकपनसे ही लगा हुआ हूँ।** (१६.४.१९९९, प्रातः ९, कानपुर)

× × ×

**मैंने अपने सामने एक ही विषय रखा है कि जीवका कल्याण कैसे हो?** (२३.११.२०००, प्रातः ५, बक्सर)

× × ×

**मैं पोथीकी पढ़ी हुई बात नहीं कहता हूँ, अपने अनुभवकी बात कहता हूँ।** (१.१०.१९९८, सायं ४, वृन्दावन)

× × ×

**आप ऊँचे बन जायँ, महात्मा बन जायँ, संसारमें आपकी कीर्ति हो जाय, आपके दर्शनसे लोगोंका कल्याण हो जाय—ऐसा मैं चाहता हूँ, इसीलिये ये बातें कहता हूँ।** (१.२.९९, प्रातः ९, गाँधीधाम)

× × ×

**जो मेरी बातोंको समझ लेगा, वह जन्म-मरणसे रहित हो जायगा।** (३.६.१९८१ व्यक्तिगत)

× × ×

**जैसे ब्याजका रुपया पड़े-पड़े बढ़ता है, डालमें लगा फल अपने-आप पकता है, ऐसे ही मेरी बात पड़े-पड़े, अपने-आप बढ़ेगी—*'विद्या कालेन पच्यते'*। जैसे वेदान्तकी बात सीखते हैं, ऐसे मेरी बात सीखी हुई नहीं रहेगी, प्रत्युत अनुभवमें आ जायगी। पर मेरी बात पढ़नी-सुननी है अनुभव करनेके लिये, उपदेश देने अथवा बाबाजी बननेके लिये नहीं।** (२४.९.१९९० व्यक्तिगत)

× × ×

**परमात्मप्राप्ति अन्तःकरणकी शुद्धिके अधीन नहीं है—ऐसी बात सुनकर लोग चौंक जाते हैं कि शंकराचार्य आदिने भी अन्तःकरणकी शुद्धिको आवश्यक माना है, फिर स्वामीजीने ऐसा कैसे कह दिया! पर जैसे भौतिक जगत्‌में नित्य नये-नये आविष्कार होते रहते हैं, ऐसे ही मैं चाहता हूँ कि आध्यात्मिक जगत्‌में भी नये-नये आविष्कार हों, और ऐसा होना सम्भव भी है; क्योंकि परमात्मप्राप्तिके कई उपाय अभी शेष पड़े हैं, प्रकट नहीं हुए हैं। यदि कोई नया आविष्कार हो जाय तो उसमें हर्जा क्या है?** (१०.६.१९९२ व्यक्तिगत)

× × ×

**चार-पाँच वर्ष और शरीर रह गया तो और सुगमतासे तत्त्वप्राप्तिकी बात बताऊँगा! मैं इसी खोजमें लगा हूँ। तत्त्वप्राप्ति करनी हो तो यह बड़ा सुन्दर मौका है! मेरी बात सुने तो सुननेके साथ ही संस्कार पड़ जाते हैं। वे संस्कार बड़ा काम करते हैं!** (२१.५.१९९३ व्यक्तिगत)

× × ×

**आज रात्रि बारह बजेके आसपास यह बात मनमें जोरसे आयी कि तत्त्वज्ञान, मुक्ति स्वतः है।**

**उसके लिये करना कुछ है ही नहीं! तत्त्वज्ञान, मुक्ति स्वाभाविक है और सबके लिये है।** (२३.५.१९९५ व्यक्तिगत)

× × ×

**भगवान् संसारका उद्धार चाहते हैं। वही उनका काम हम करते हैं, इसलिये भगवान्‌को हमारी गरज है! वे हमारे पीछे पड़े हैं!!** (२०.१२.१९९९ व्यक्तिगत)

**परम प्रभु अपने ही महुँ पायो।**
**जुग जुग केरी मेटी कलपना, सतगुरु भेद बतायो॥**
**ज्यों निज कंठ मणी भूषण कहुँ, जानत ताहि गमायो।**
**आन किसी ने देखि बतायो, मन को भरम मिटायो॥**
**ज्यों तिरिया सपने सुत खोयो, जानत जिय अकुलायो।**
**जागत ताहि पलँग पर पायो, कहुँ ना गयो नहिं आयो॥**
**मिरगन्ह पास बसे कस्तूरी, ढूँढ़त बन बन धायो।**
**निज नाभी की गंध न जानत, हारि थक्यो सकुचायो॥**
**कहत कबीर भई गति सोई, ज्यों गूँगो गुड़ खायो।**
**ताको स्वाद कहे कहु कैसो, मन ही मन मुसकायो॥**

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

# बोध-सूत्र

१. संसार 'यह' है, परमात्मा 'वह' और जीव 'मैं' है।
२. 'यह' जड़ है, 'वह' चेतन है और 'मैं' जड़-चेतनकी ग्रन्थि है।
३. 'यह' प्रकाश्य है, 'वह' प्रकाशक है और 'मैं' प्रतीति है।
४. तत्त्वदर्शियोंने 'यह' (शरीर-संसार)-को 'नहीं' और 'वह' (जीव-ब्रह्म)-को 'है' कहा है।
५. चेतन द्वारा जड़से माने हुए सम्बन्धका नाम 'मैं' है।
६. जबतक 'मैं' है, तबतक 'यह' भी है तथा 'वह' भी है।
७. 'मैं' ही सम्पूर्ण दोषोंका तथा जन्म-मरणका कारण है।
८. 'मैं' के सम्बन्धसे सर्वदेशीय 'है' भी एकदेशीय 'हूँ' ('मैं हूँ') हो जाता है।
९. सभी 'मैं' मिलकर 'नहीं' और सभी 'हूँ' मिलकर 'है' हो जाते हैं। 'नहीं' की नित्यनिवृत्ति और 'है' की नित्यप्राप्ति है।
१०. 'मैं' के इस पार 'हूँ' और उस पार 'है' है।
११. 'मैं' की मुख्यता होनेसे जीव 'संसारी' और 'हूँ' की मुख्यता होनेसे 'जिज्ञासु' होता है।
१२. 'हूँ' में ही 'है' छिपा है। अतः जिज्ञासु 'हूँ' में 'है' को स्वीकार करे।
१३. 'मैं' का खण्डन होते ही 'यह' अथवा 'हूँ' नहीं रहता, अपितु केवल 'है' रहता है।
१४. 'है' में स्थिति बोध है।
१५. बोध होनेपर बोधवान् नहीं रहता; क्योंकि 'है' में 'मैं' नहीं है।
१६. 'है' अनुभवरूप है। इसका कभी अननुभव नहीं होता।
१७. 'है' संज्ञा भी 'नहीं' की अपेक्षा है, अन्यथा चिन्मय सत्तामात्र है।
१८. तत्त्वसे 'है' भी नहीं है तथा 'नहीं' भी नहीं है, अपितु जो है, वही है। जो है, वही है।

*—राजेन्द्र कुमार धवन*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

## परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी वाणीपर आधारित 'गीता प्रकाशन' का शीघ्र कल्याणकारी साहित्य

१. **संजीवनी-सुधा**—'गीता साधक-संजीवनी' पर आधारित शोधपूर्ण पुस्तक।
२. **सीमाके भीतर असीम प्रकाश**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
३. **बिन्दुमें सिन्धु**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
४. **नये रास्ते, नयी दिशाएँ**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
५. **अनन्तकी ओर**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
६. **स्वातिकी बूँदें**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
७. **अनुभव-वाणी**—चुने हुए अनमोल वचन। अँग्रेजी-भाषान्तरसहित।
८. **सहज गीता** (अँग्रेजीमें भी)—नये पाठकोंके लिये गीताका सरल हिन्दीमें भावार्थ।
९. **हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं** (गुजराती व अँग्रेजीमें भी)—इस प्रार्थनाके रहस्य तथा महत्त्वका अद्भुत वर्णन।
१०. **कृपामयी भगवद्गीता** (गुजराती व अँग्रेजीमें भी)—गीताकी महिमा और उसकी विलक्षणता।
११. **लक्ष्य अब दूर नहीं** (गुजरातीमें भी)—परमात्मप्राप्तिके विविध सुगम साधनोंका अनूठा संकलन।
१२. **सहज समाधि भली** (गुजरातीमें भी)—'चुप साधन' का विस्तृत विवेचन।
१३. **अपने प्रभुको पहचानें**—भगवान्‌के समग्ररूपका विस्तृत विवेचन।
१४. **एक सन्तकी अमूल्य शिक्षा** (क्या करें, क्या न करें)
१५. **विलक्षण सन्त, विलक्षण वाणी**—परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजकी वसीयत-सहित।
१६. **गोरक्षा—हमारा परम कर्तव्य**
१७. **क्या करें, क्या न करें?**—आचार-व्यवहारसे सम्बन्धित शास्त्र-वचनोंका अनूठा संग्रह।
१८. **भवन-भास्कर** (परिशिष्ट-सहित)—वास्तुशास्त्रकी महत्त्वपूर्ण बातें।
१९. **सुखपूर्वक जीनेकी कला**—सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर।
२०. **क्या आप ईश्वरको मानते हैं?**—साधकोंके लिये चेतावनी।
२१. **सन्तवाणी (प्रथम शतक)**—चुने हुए सौ अनमोल वचन।
२२. **सन्तवाणी (द्वितीय शतक)**—चुने हुए सौ अनमोल वचन।
२३. **रहस्यमयी वार्ता**—हस्तलिखित डायरीसे। विविध विषयोंसे सम्बन्धित मार्मिक प्रश्नोत्तर।
२४. **मेरे नाथ! मेरे प्रभो!**—भगवान्‌से अपनापन-सम्बन्धी बातोंका अनूठा संकलन।
२५. **जीवन्मुक्ति के रहस्य**—हस्तलिखित डायरीसे। जीवन्मुक्तिके सहज उपाय।
२६. **बोलनेवाली श्रीमद्भगवद्गीता** (अर्थसहित, अँग्रेजीमें भी)—इसे पढ़नेके साथ-साथ शुद्ध उच्चारणमें सुन भी सकते हैं।
२७. **ग्लोब गीता**—आकर्षक ग्लोबके आकारमें सम्पूर्ण गीता।

*पुस्तकें मँगवानेका पता—*

**गीता प्रकाशन कार्यालय,**
**माया बाजार, पश्चिमी फाटक,**
**गोरखपुर—273001 (उ०प्र०)**
**फोन—09389593845, 09453492241**
e-mail: **radhagovind10@gmail.com** website: **www.gitaprakashan.com**